1

महान नेताओं, प्रशासकों और सुधारकों के जीवन और उपदेशों से मिलने वाली शिक्षाएँ

(Lessons from the Life and Preachings of Great Leaders, Administrators and Reformers)

****(इस टॉपिक का संबंध सिविल सेवा (मुख्य परीक्षा) पाठ्यक्रम के प्रश्नपत्र-4 में उल्लिखित टॉपिक-5 से है। दृष्टि द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में से इसका संबंध भाग-13 से है।*

संसार के महान नेताओं, प्रशासकों और सुधारकों ने अपने जीवन एवं उपदेशों से संसार एवं मानवता को नई राह दिखाई है। उनके प्रयास न केवल उनके समाज के लिए अपितु समस्त मानव जाति के उत्थान के लिए मील का पत्थर साबित हुए हैं। समय साक्षी है कि उनकी वाणियों की प्रासंगिकता और महत्ता अक्षुण्ण रही है। उनके कर्म और विचार मानव सभ्यता को और अधिक ऊँचाई की ओर ले जाने में सक्षम साबित हुए हैं। इन नेताओं, सुधारकों एवं प्रशासकों के प्रयास किसी धर्म, वर्ण, प्रजाति आदि के लिए नहीं होकर मानव मात्र के कल्याण के लिए समर्पित थे; इसलिए उन्हें किसी सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। इन महान लोगों के जीवन के सिद्धांतों को हम उनके व्यवहार में भी देख सकते हैं। इनके सिद्धांतों और आचरण में भेद बताया नहीं जा सकता। वे जिस तरह के जीवन की आशा अपने अनुयायियों से करते थे, वैसा जीवन खुद भी जीते थे। इनके चरित्र और आचरण में भिन्नता नहीं मिलती है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण नेताओं, सुधारकों एवं प्रशासकों का परिचय नीचे दिया गया है।

भारत के महान नेता *(Great Leaders of India)*

सर सैयद अहमद खाँ *(Sir Syed Ahmad Khan)*

सर सैयद अहमद खाँ का जन्म 17 अक्टूबर, 1817 को दिल्ली में हुआ था। उनके पिता तथा नाना मुगल दरबार से संबंधित थे। 22 वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु के बाद सैयद के परिवार को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिससे शीघ्र ही उन्हें आजीविका कमाने में लगना पड़ा। सर सैयद अहमद खाँ ने 1830 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी में क्लर्क के रूप में काम शुरू किया, तीन वर्ष बाद 1841 ई. में मैनपुरी में उप-न्यायाधीश बने और विभिन्न स्थानों पर न्यायिक विभाग में काम किया। सैयद अहमद को न्यायिक विभाग में कार्य करने की वजह से कई क्षेत्रों में सक्रिय होने का समय मिल सका।

23 वर्ष की आयु में धार्मिक पुस्तिकाएँ लिखकर सर सैयद ने अपने उर्दू लेखन की शुरुआत की। उन्होंने धार्मिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर काफी कुछ लिखा। वह 19वीं शताब्दी के अंत में भारतीय इस्लाम के पुनर्जागरण की प्रमुख प्रेरक शक्ति बने। उनकी कृतियों में पैगम्बर मुहम्मद के जीवन पर लेख और बाइबिल तथा कुरान पर टीकाएँ सम्मिलित हैं। उन्होंने 1847 में एक उल्लेखनीय पुस्तक आसार अल सनादीद (महान लोगों के स्मारक) प्रकाशित की, जो दिल्ली के पुरावशेषों पर आधारित थी।

धैर्य और सहनशीलता की मूर्ति सैयद अहमद खाँ ने अपनी गंभीर सूझ-बूझ के आधार पर ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रिया की चिंता किए बिना, जनक्रांति के कारणों पर 1859 ई. में 'असबा-ए-बगावते-हिंद' शीर्षक से एक महत्वपूर्ण पुस्तिका लिखी और उसका अंग्रेजी अनुवाद ब्रिटिश पार्लियामेंट को भेज दिया। 1857 की क्रांति के जोखिम भरे विषय पर कुछ लिखने वाले सर सैयद प्रथम भारतीय हैं। अपनी कृतियों में उन्होंने इस्लामी मत का समकालीन वैज्ञानिक तथा राजनीतिक प्रगतिशील विचारों से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। 1864 ई. में सर सैयद अहमद खाँ ने 'वैज्ञानिक समाज' की स्थापना भी की तथा 1875 ई में 'अलीगढ़ मुस्लिम एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज' की स्थापना की।

सर सैयद की दूरदृष्टि अंग्रेजों के षड्यंत्र से अच्छी तरह से वाकिफ थी। उन्हें मालूम था कि अंग्रेजी हुकूमत हिन्दुस्तान पर स्थापित हो चुकी है और सर सैयद ने उन्हें हराने के लिए शैक्षिक मैदान को बेहतर समझा। इसलिए अपने बेहतरीन लेखों के माध्यम से कौम में शिक्षा व संस्कृति की भावना जगाने की कोशिश की। सैयद के जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार उसके व्यापकतम अर्थों में करना था। मुस्लिम समाज के सुधार के लिए प्रयासरत सर सैयद ने 1858 में मुरादाबाद में आधुनिक मदरसे की स्थापना की। यह उन शुरुआती धार्मिक स्कूलों में था जहाँ वैज्ञानिक शिक्षा दी जाती थी। उन्होंने 1863 में गाजीपुर में भी एक आधुनिक स्कूल की स्थापना की। उनका एक अन्य महत्वाकांक्षी कार्य था - 'साइंटिफिक सोसाइटी' की स्थापना, जिसने कई शैक्षिक पुस्तकों का अनुवाद प्रकाशित किया और उर्दू तथा अंग्रेजी में द्विभाषी पत्रिका निकाली।

यह संस्था सभी नागरिकों के लिए थी और हिन्दू तथा मुस्लिम मिलकर इसका संचालन करते थे। उन्होंने इंग्लैंड की अपनी यात्रा (1869 70) के दौरान 'मुस्लिम कैंब्रिज' जैसी महान शिक्षण संस्थाओं की योजना तैयार की। भारत लौटने पर उन्होंने इस उद्देश्य

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (91) 8130 ... 59-60
ई मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright - Akhil Murti

के लिए एक समिति बनाई और मुसलमानों के उत्थान और सुधार के लिए प्रभावशाली पत्रिका तहदीब-अल-अखलाक (सामाजिक सुधार) का प्रकाशन प्रारंभ किया। सैयद ने 1886 में ऑल इंडिया मुहम्मडन एजुकेशनल कॉन्फ्रेंस का गठन किया, जिसके वार्षिक सम्मेलन मुसलमानों में शिक्षा को बढ़ावा देने तथा उन्हें एक साझा मंच उपलब्ध कराने के लिए विभिन्न स्थानों पर आयोजित किये जाते थे। 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना होने तक यह भारतीय इस्लाम का प्रमुख राष्ट्रीय केंद्र था।

मई, 1875 में अलीगढ़ में 'मदरसतुल उलूम' नामक एक मुस्लिम स्कूल स्थापित किया गया और 1876 में सेवानिवृति के बाद सैयद ने इस संस्था को कॉलेज में बदलने की बुनियाद रखी। सैयद की परियोजनाओं के प्रति रूढ़िवादी विरोध के बावजूद कॉलेज ने तेजी से प्रगति की और 1920 में इसे विश्वविद्यालय के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

भारतीय उपमहाद्वीप में मुसलमानों के पुर्नजागरण के प्रतीक सर सैयद अहमद खाँ का उद्देश्य मात्र अलीगढ़ में एक विश्वविद्यालय की स्थापना करना ही नहीं था, बल्कि उनकी हार्दिक कामना थी कि अलीगढ़ में उनके द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थान का प्रारूप एक ऐसे केन्द्र के रूप में हो जिसके अधीन देश भर की मुस्लिम शिक्षण संस्थाएँ उसके निर्देशन में आगे बढ़ें जिससे देश भर के मुसलमान आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर राष्ट्र निर्माण में अपनी सक्रिय भूमिका निभा सकें। सर सैयद भारतीय मुसलमानों के ऐसे पहले समाज सुधारक थे जिन्होंने अज्ञानता की काली चादर की धज्जियाँ उड़ाकर मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा और वैज्ञानिक चेतना जागृत की।

सर सैयद के अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के द्वार सभी धर्मावलम्बियों के लिए खुले हुए थे। पहले दिन से ही अरबी, फारसी भाषाओं के साथ-साथ संस्कृत भाषा की शिक्षा की भी व्यवस्था की गई। स्कूल के स्तर तक हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन को भी अपेक्षित समझा गया और और इसके लिए पं. केदारनाथ अध्यापक नियुक्त हुए। स्कूल तथा कॉलेज दोनों ही स्तरों पर हिन्दू अध्यापकों की नियुक्ति में कोई संकोच नहीं किया गया। कॉलेज के गणित के प्रोफेसर जादव चन्द्र चक्रवर्ती को अखिल भारतीय स्तर पर ख्याति प्राप्त हुई। सैयद मुसलमानों को सक्रिय राजनीति के बजाय शिक्षा पर ध्यान केंद्रित करने की सलाह देते थे। बाद में जब कुछ मुसलमान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित हुए, तो सैयद ने इस संगठन और इसके उद्देश्य का जमकर विरोध किया, जिनमें भारत में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना भी एक उद्देश्य था। उन्होंने दलील दी कि सांप्रदायिक तौर पर विभाजित और कुछ वर्गों के लिए सीमित शिक्षा तथा राजनीतिक संगठन वाले देश में संसदीय लोकतंत्र से केवल असमानता ही बढ़ेगी।

वे इंग्लैण्ड गये और वहाँ विश्वविद्यालयों में जाकर शिक्षा व संस्कृति का गहन अध्ययन किया। वहाँ सुधार के लिए प्रकाशित अंग्रेजी मैगजीन 'टैटलर' और 'गार्जियन' की फाइलों को देखकर वे बहुत ही प्रभावित हुए। वहीं से सर सैयद को अपनी कौम को जागरुक करने के लिए एक माध्यम मिल गया जिसकी तलाश में वे सदा ही भटकते रहते थे। जब वे यूरोप से वापस आए तो उन्होंने 24 दिसम्बर, 1870 को 'तहजीबुल अखलाक' के नाम से मैगजीन जारी किया, जिसमें मुसलमानों के कल्याण से सम्बन्धित लेख छापे जाते थे।

सर सैयद ने कौम की खिदमत के साथ साथ मातृभाषा (उर्दू) का दामन कभी नहीं छोड़ा। उन्हें पूरा विश्वास था कि जो सभ्यता उर्दू भाषा में पायी जाती है, वह किसी अन्य भाषा में नहीं है। लिहाजा इस भाषा को सँवारने के उद्देश्य से उन्होंने उर्दू मैगजीन छापने का फैसला किया, जिससे उर्दू भाषा को बढ़ावा मिला।

सेवा से अवकाश प्राप्त करने के बाद वह पूरी तरह से स्कूल के विकास और धार्मिक सुधार में लग गए। हालांकि इस दौरान उन्हें धार्मिक नेताओं के जोरदार विरोध का सामना करना पड़ा। लेकिन सर सैयद ने घुटने नहीं टेके और अपने काम में लगातार लगे रहे। इस दौरान उन्हें ब्रिटिश राज का समर्थन मिला। उनके कई विचारों को लेकर विवाद भी हुआ। उन्होंने उर्दू को लोकप्रिय और मुस्लिमों की भाषा बनाने के लिए काफी प्रयास किया। उनकी देख-रेख में पश्चिमी कृतियों का उर्दू में अनुवाद कराया गया। उनके द्वारा स्थापित, स्कूलों में शिक्षा का माध्यम उर्दू को बनाया गया। सर सैयद ने सामाजिक सरोकारों के लिए भी काम किया और 1860 में पश्चिमोत्तर सीमांत प्रांत में अकाल पीड़ितों को राहत पहुँचाने के लिए सक्रिय रूप से योगदान किया। इस महान शिक्षाविद् और समाज सुधारक व्यक्तित्व की जीवनलीला 27 मार्च, 1898 को समाप्त हो गई।

बाल गंगाधर तिलक *(Bal Gangadhar Tilak)*

बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 को महाराष्ट्र के रत्नागिरि इलाके में हुआ था। आधुनिक ढंग से शिक्षा दीक्षा प्राप्त करने वाले तिलक ने स्नातक के बाद वकालत की पढ़ाई पूरी की। पश्चिमी शिक्षा पद्धति से असहमत तिलक ने युवाओं को राष्ट्रीय शिक्षा प्रदान करने के लिए अपने साथियों विष्णु शास्त्री चिपलुनकर और आगरकर के साथ मिलकर 'न्यू इंग्लिश स्कूल' की स्थापना की, जो आज 'दक्कन एजुकेशन सोसायटी' में तब्दील हो चुका है। लोगों में जागरूकता लाने के लिए तिलक ने दो साप्ताहिक पत्रों की शुरुआत की। इनमें से एक 'केसरी' मराठी में, जबकि 'मराठा' अंग्रेजी में प्रकाशित होता था। इन दोनों पत्रों के संपादकीय पूरी तरह से तिलक के विचारों पर आधारित होते थे। अपने लेखों में तिलक ने तत्कालीन भारत की सच्ची तस्वीर पेश करते हुए ब्रिटिश शासन की घोर निंदा की। अगले दो वर्षों में ही 'केसरी' देश का सबसे ज्यादा बिकने वाला भाषाई समाचार पत्र बन गया।

सन् 1897 में मुंबई से पूना तक प्लेग का भयंकर आक्रमण हुआ। प्लेग से निपटने से सरकारी तौर-तरीकों से दुखी और नाराज तिलक ने अपने स्तर पर पीड़ितों की चिकित्सा की व्यवस्था की। सरकार ने तिलक पर लोगों को हत्या के लिए भड़काने का आरोप

Copyright Akhil Murti

नाराज अंग्रेजों ने तिलक को भारतीय अशांति का दूत घोषित कर दिया। इस
लगाया और उन्हें 18 महीने की कैद की सजा सुनाई। नाराज अंग्रेजों ने तिलक को भारतीय अशांति का दूत घोषित कर दिया। इस
बीच तिलक ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता ले ली, लेकिन स्वराज्य की मांग को लेकर कांग्रेस के उदारवादियों का रुख
उन्हें पसंद नहीं आया और सन् 1907 के कांग्रेस के सूरत अधिवेशन के दौरान कांग्रेस गरम दल और नरम दल में बँट गई। सन्
1908 में सरकार ने उन पर राजद्रोह का आरोप लगाकर मुकदमा चलाया। तिलक का मुकदमा मुहम्मद अली जिन्ना ने लड़ा, परंतु
तिलक को 6 वर्ष की कैद की सजा सुना दी गई। तिलक को सजा काटने के लिए मांडले (बर्मा) भेज दिया गया। सन् 1916 में
रिहाई के बाद तिलक ने पुनः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रवेश किया। सन् 1916 से 1918 के दौरान उन्होंने एनी बेसेंट के साथ
मिलकर 'अखिल भारतीय होम रूल लीग' की स्थापना भी की।

तिलक ने बहुत पहले ही राष्ट्रीय एकता के महत्त्व को समझ लिया था। उन्होंने गणेश उत्सव, शिवाजी उत्सव आदि को व्यापक
रूप से मनाना प्रारंभ किया। उनका मानना था कि इस तरह के सार्वजनिक मेल-मिलाप के कार्यक्रम लोगों में सामूहिकता की भावना
का विकास करते हैं। वे अपने इस उद्देश्य में काफी हद तक सफल भी हुए। तिलक ने शराबबंदी के विचार का पुरजोर समर्थन किया।
वे पहले कांग्रेसी नेता थे, जिन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने की मांग की थी।

तिलक ने भारतीय दर्शन और संस्कृति पर अनेक रचनाएँ की। मांडले जेल में रचित अपनी पुस्तक 'गीता रहस्य' में उन्होंने
श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोग की वृहद व्याख्या की। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'आर्कटिक होम इन द वेदास', 'द हिंदू फिलॉसफी
ऑफ लाइफ, 'इथिक्स एंड रिलिजन', 'वैदिक क्रोनोलॉजी एंड वेदांग ज्योतिष'-आदि पुस्तकों की रचना की। अपने राजनीतिक जीवन
की शुरुआत उग्र विचारधारा के साथ करने वाले बाल गंगाधर तिलक अपने अंतिम समय में बातचीत के पक्षधर हो गए थे। 1 अगस्त,
1920 को इस जननायक ने मुंबई में अपनी अंतिम सांस ली। तिलक की मृत्यु पर महात्मा गांधी ने कहा-'हमने आधुनिक भारत का
निर्माता खो दिया है।'

सरदार वल्लभ भाई पटेल (*Sardar Vallabhbhai Patel*)

सरदार वल्लभ भाई पटेल का जन्म 31 अक्टूबर, 1875 को नाडियाड (गुजरात) में हुआ था। 16 वर्ष की आयु में उनका विवाह
हो गया तथा 22 साल की उम्र में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। वे ज़िला अधिवक्ता की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए जिससे उन्हें
वकालत करने की अनुमति मिली। सन् 1900 में उन्होंने गोधरा में स्वतंत्र जिला अधिवक्ता कार्यालय की स्थापना की और दो साल
बाद खेड़ा जिले के बोरसद नामक स्थान पर चले गए।

वकील के रूप में पटेल ने कमज़ोर मुकदमें को सटीकता से प्रस्तुत करके और पुलिस के गवाहों तथा अंग्रेज़ न्यायाधीशों को
चुनौती देकर विशेष स्थान अर्जित किया। 1908 में पटेल की पत्नी की मृत्यु हो गई। उस समय उनके एक पुत्र और एक पुत्री थी।
इसके बाद उन्होंने विधुर जीवन व्यतीत किया। वकालत के पेशे में तरक्की करने के लिए कृतसंकल्प पटेल ने मिड्ल टेंपल में
अध्ययन करने के लिए अगस्त, 1910 में लंदन की यात्रा की। वहाँ उन्होंने मनोयोग से अध्ययन किया और अंतिम परीक्षा में उच्च
प्रतिष्ठा के साथ उत्तीर्ण हुए। फरवरी, 1913 में भारत लौटकर वह अहमदाबाद में बस गए और तेजी से उन्नति करते हुए अहमदाबाद
अधिवक्ता बार में अपराध कानून के अग्रणी बैरिस्टर बन गए। गम्भीर और शालीन पटेल अपने उच्चस्तरीय तौर-तरीकों और चुस्त
अंग्रेज़ी पहनावे के लिए जाने जाते थे। वह अहमदाबाद के फैशनपरस्त गुजरात क्लब में ब्रिज के चैंपियन होने के कारण भी विख्यात
थे। 1917 तक वह भारत की राजनीतिक गतिविधियों के प्रति उदासीन रहे।

1917 में मोहनदास करमचन्द गांधी से प्रभावित होने के बाद पटेल ने पाया कि उनके जीवन की दिशा बदल गई है। पटेल
गांधी के सत्याग्रह के साथ तब तक जुड़े रहे, जब तक वह अंग्रेज़ों के खिलाफ भारतीयों के संघर्ष में कारगर रहा। लेकिन उन्होंने
कभी भी खुद को गांधी के नैतिक विश्वासों व आदर्शों के साथ नहीं जोड़ा और उनका मानना था कि उन्हें सार्वभौमिक रूप से
लागू करने का गांधी का आग्रह, भारत के तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अप्रासंगिक है। फिर भी गांधी
के अनुसरण और समर्थन का संकल्प करने के बाद पटेल ने अपनी शैली और वेशभूषा में परिवर्तन कर लिया। उन्होंने गुजरात क्लब
छोड़ दिया, भारतीय किसानों के समान सफेद वस्त्र पहनने लगे और भारतीय खान-पान को अपना लिया।

1917 से 1924 तक पटेल ने अहमदनगर के पहले भारतीय निगम आयुक्त के रूप में सेवा प्रदान की और 1924 से 1928
तक वह इसके निर्वाचित नगरपालिका अध्यक्ष रहे। 1918 में पटेल ने अपनी पहली छाप छोड़ी, जब भारी ~~वर्षा से फसल तबाह~~
होने के बावजूद बम्बई सरकार द्वारा पूरा सालाना लगान वसूलने के फैसले के विरुद्ध उन्होंने गुजरात के कैरा जिले में किसानों और
काश्तकारों के जनांदोलन की रूपरेखा बनाई। 1928 में पटेल ने बढ़े हुए करों के खिलाफ बारदोली के भूमिपतियों के संघर्ष का
सफलतापूर्वक नेतृत्व किया। बारदोली आन्दोलन के कुशल नेतृत्व के कारण उन्हें 'सरदार' की उपाधि मिली और उसके बाद देश
भर में राष्ट्रवादी नेता के रूप में उनकी पहचान बन गई। उन्हें व्यावहारिक, निर्णायक और यहाँ तक कि कठोर भी माना जाता था
तथा अंग्रेज़ उन्हें एक खतरनाक शत्रु मानते थे।

1928 से 1931 के बीच इंडियन नेशनल कांग्रेस के उद्देश्यों पर हो रही महत्त्वपूर्ण बहस में पटेल का विचार (गांधी और
मोतीलाल नेहरू के समान, लेकिन जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के विपरीत) था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का लक्ष्य

Copyright Akhil Murti

स्वाधीनता नहीं, बल्कि ब्रिटिश राज के भीतर अधिराज्य का दर्जा प्राप्त करने का होना चाहिए। पटेल नैतिक नहीं, व्यावहारिक आधार पर सशस्त्र आन्दोलन को नकारते थे और उनका मानना था कि यह विफल रहेगा और इसका जबरदस्त दमन होगा।

बलपूर्वक आर्थिक और सामाजिक बदलाव लाने की आवश्यकता के बारे में पटेल जवाहरलाल नेहरू से असहमत थे। पारम्परिक हिन्दू मूल्यों से उपजे रूढ़िवादी पटेल भारत की सामाजिक और आर्थिक संरचना में समाजवादी विचारों को अपनाने पर विश्वास नहीं करते थे। वह मुक्त उद्यम में यकीन रखते थे। 1930 में नमक सत्याग्रह के दौरान पटेल को तीन महीने की जेल की सजा हुई। मार्च, 1931 में पटेल ने इंडियन नेशनल कांग्रेस के कराँची अधिवेशन की अध्यक्षता की। 1937 के चुनावों में इन्होंने कांग्रेस पार्टी के संगठन को व्यवस्थित किया। अक्टूबर, 1940 में कांग्रेस के अन्य नेताओं के साथ पटेल भी गिरफ्तार हुए और अगस्त, 1941 में रिहा हुए। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब जापानी हमले की आशंका हुई, तो पटेल ने गांधी की अहिंसा की नीति को अव्यावहारिक बताकर खारिज कर दिया। सत्ता के हस्तान्तरण के मुद्दे पर भी पटेल का गांधी से इस बात पर मतभेद था कि उपमहाद्वीप का हिन्दू भारत तथा मुस्लिम पाकिस्तान के रूप में विभाजन अपरिहार्य है। पटेल ने ज़ोर दिया कि पाकिस्तान दे देना भारत के हित में है। स्वतंत्र भारत के पहले तीन वर्ष में पटेल उप-प्रधानमंत्री, गृह मंत्री, सूचना मंत्री और राज्य मंत्री रहे।

उनकी ख्याति भारत के रजवाड़ों को शान्तिपूर्ण तरीके से भारतीय संघ में शामिल करने तथा भारत के राजनीतिक एकीकरण के कारण है। गृहमंत्री बनने के बाद भारतीय रियासतों के विलय की जिम्मेदारी उनको ही सौंपी गई। उन्होंने अपने दायित्वों का निर्वहन करते हुए छह सौ छोटी बड़ी रियासतों का भारत में विलय कराया। देशी रियासतों का विलय स्वतंत्र भारत की पहली उपलब्धि थी। 5 जुलाई, 1947 को सरदार पटेल ने रियासतों के प्रति नीति को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'रियासतों को तीन विषयों सुरक्षा, विदेश तथा संचार व्यवस्था के आधार पर भारतीय संघ में शामिल किया जाएगा।' पटेल ने भारतीय संघ में उन रियासतों का विलय किया था जो स्वयं में संप्रभुता प्राप्त थी; उनका अलग झंडा और अलग शासक था। सरदार पटेल ने आजादी के ठीक पूर्व (संक्रमण काल में) ही वी.पी. मेनन के साथ मिलकर कई देसी राज्यों को भारत में मिलाने के लिये कार्य आरम्भ कर दिया था। पटेल और मेनन ने देसी राजाओं को बहुत समझाया कि उन्हें स्वायत्तता देना सम्भव नहीं होगा। इसके परिणामस्वरूप तीन को छोड़कर शेष सभी रजवाड़ों ने स्वेच्छा से भारत में विलय का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। 15 अगस्त, 1947 तक हैदराबाद, कश्मीर और जूनागढ़ को छोड़कर शेष भारतीय रियासतें 'भारत संघ' में सम्मिलित हो गयीं। जूनागढ़ के नवाब के विरुद्ध जब बहुत विरोध हुआ तो वह भागकर पाकिस्तान चला गया और जूनागढ़ भी भारत में मिल गया। जब हैदराबाद के निजाम ने भारत में विलय का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया तो सरदार पटेल ने वहाँ सेना भेजकर निजाम को आत्मसमर्पण करने के लिए विवश किया।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को वैचारिक एवं क्रियात्मक रूप में एक नई दिशा देने के कारण सरदार पटेल ने राजनीतिक इतिहास में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया। वास्तव में वे आधुनिक भारत के शिल्पी थे। उनके कठोर व्यक्तित्व में बिस्मार्क जैसी संगठनात्मक कुशलता, कौटिल्य जैसी राजनीतिक सूझबूझ तथा राष्ट्रीय एकता के प्रति अब्राहम लिंकन जैसी अटूट निष्ठा थी। जिस अदम्य उत्साह और असीम शक्ति से उन्होंने नवजात गणराज्य की प्रारम्भिक कठिनाइयों का समाधान किया, उसके कारण विश्व के राजनीतिक मानचित्र में उन्होंने अमिट स्थान बना लिया। भारत के राजनीतिक इतिहास में सरदार पटेल के योगदान को कभी नहीं भुलाया जा सकता।

सरदार पटेल के ऐतिहासिक कार्यों में सोमनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण, गांधी स्मारक निधि की स्थापना, कमला नेहरू अस्पताल की रूपरेखा आदि कार्य सदैव स्मरण किए जाते रहेंगे। लक्षद्वीप समूह को भारत के साथ मिलाने में भी पटेल की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। नीतिगत दृढ़ता के लिए उन्हें 'सरदार' और 'लौह पुरुष' जैसी उपाधि प्रदान की गई। बिस्मार्क ने जिस तरह जर्मनी के एकीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, उसी तरह वल्लभ भाई पटेल ने भी आजाद भारत को एक विशाल राष्ट्र बनाने में उल्लेखनीय योगदान दिया। बिस्मार्क को जहाँ जर्मनी का 'आयरन चांसलर' कहा जाता है, वहीं पटेल भारत के लौह पुरुष कहलाते हैं। सन् 1991 में मरणोपरान्त भारत रत्न से सम्मानित पटेल की याद में अहमदाबाद के हवाई अड्डे का नामकरण सरदार वल्लभभाई पटेल अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा किया गया है। गुजरात के वल्लभ विद्यानगर में सरदार पटेल विश्वविद्यालय है। सरदार पटेल जी का निधन 15 दिसम्बर 1950 को मुंबई (महाराष्ट्र) में हुआ।

जयप्रकाश नारायण *(Jai Prakash Narayan or JP)*

जयप्रकाश का जन्म 11 अक्टूबर, 1902 ई. को सिताबदियारा, बिहार में हुआ था। सन् 1920 में उनका विवाह मृदु स्वभाव की 'प्रभा' नामक लड़की से हुआ। जयप्रकाश दंपती एक निष्ठावान राष्ट्रवादी थे। मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित जयप्रकाश ने जलियाँवाला नरसंहार के विरोध में ब्रिटिश स्कूल को छोड़कर बिहार विद्यापीठ से अपनी उच्च शिक्षा पूरी की। समाजशास्त्र में एम.ए. करने वाले जयप्रकाश नारायण ने अमेरिकी विश्वविद्यालय में आठ वर्ष तक अध्ययन किया।

जब कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनी तो जयप्रकाश को पार्टी महासचिव बनाया गया। जयप्रकाश ने नई पार्टी का खूब प्रचार प्रसार किया। उनकी बातों का भारतीय जनमानस पर अच्छा प्रभाव था। संघर्ष के इसी दौर में उनकी पत्नी भी गिरफ्तार कर ली गई और उन्हें दो वर्ष की सजा हुई। भारत में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ आंदोलन चलाने के कारण जेपी को कई बार गिरफ्तार किया गया।

Copyright Akhil Murti

इसी दौरान हजारीबाग जेल में बंद जेपी 9 नवम्बर, 1942 ई. को अपने छ: सहयोगियों के साथ जेल परिसर को लांघ गये। जयप्रकाश नारायण ने आचार्य नरेंद्र देव के साथ मिलकर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। 1953 में कृषक मजदूर प्रजा पार्टियों के विलय में उन्होंने सक्रिय भूमिका निभाई। भारत के स्वतंत्र होने के बाद उन्होंने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी से इस्तीफा दे दिया और चुनावी राजनीति से अलग होकर भूमि सुधार के लिए विनोबा भावे के भूदान आंदोलन से जुड़ गए।

जयप्रकाश जी 1974 में भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में एक कटु आलोचक के रूप में प्रभावी ढंग से उभरे। 1975 में राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा होने पर जेपी व विपक्षी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। सरकार विरोधी आंदोलन तेज हो गया और बिखरे हुए विपक्षी दल जेपी की छाँव में एकता के सूत्र में बंध गये। इस नये समूह ने भारत के 1977 के आम चुनाव में भारी सफलता प्राप्त करके आजादी के बाद की पहली गैर कांग्रेसी सरकार बनाई। जयप्रकाश ने स्वयं राजनीतिक पद से दूर रहकर मोरारजी देसाई का नाम प्रधानमंत्री पद के लिए सुझाया। इससे उनकी त्याग की भावना का पता लगता है। उन्होंने अनेक यूरोपीय यात्राएँ करके सर्वोदय के सिद्धान्त को सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित किया।

सरकार एवं भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन में 5 जून, 1975 को अपने प्रसिद्ध भाषण में जयप्रकाश ने कहा था कि "भ्रष्टाचार मिटाना, बेरोजगारी दूर करना, शिक्षा में क्रान्ति लाना आदि ऐसी चीजें हैं जो आज की व्यवस्था से पूरी नहीं हो सकतीं; क्योंकि वे इस व्यवस्था की ही उपज हैं। वे तभी पूरी हो सकती हैं जब सम्पूर्ण व्यवस्था बदल दी जाय और सम्पूर्ण व्यवस्था के परिवर्तन के लिए क्रान्ति-'सम्पूर्ण क्रान्ति' आवश्यक है।" उनकी इस बात का बिजली और जादू की तरह असर हुआ। देश के बच्चे-बच्चे की जुबान पर संपूर्ण क्रांति का नारा आ गया। हर व्यक्ति तब देश में एक नई प्रभात की प्रतीक्षा करने लगा था। जेपी ने संपूर्ण क्रांति को स्पष्ट करते हुए बताया था कि सामाजिक क्रांति, आर्थिक क्रांति, राजनीतिक क्रांति, सांस्कृतिक क्रांति, वैचारिक अथवा बौद्धिक क्रांति, शैक्षणिक क्रांति और आध्यात्मिक क्रांति जैसी 7 क्रांतियाँ मिलकर संपूर्ण क्रांति होती है। जेपी ने कहा था कि क्रांति शब्द से परिवर्तन और नवनिर्माण दोनों ही अभिप्रेत है। क्रांति या क्रांतिकारी परिवर्तन बहुत शीघ्र गति से होता है और यह परिवर्तन बड़ा दूरगामी और मूलगामी होता है। उनका उद्घोष था- 'संपूर्ण क्रांति अब नारा है, भावी इतिहास हमारा है।'

8 अक्टूबर, 1979 ई. को पटना, बिहार में उनका निधन हो गया। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए 1998 में लोकनायक जय प्रकाश नारायण को मरणोपरान्त भारत सरकार ने देश के सर्वोच्च सम्मान 'भारत रत्न' से सम्मानित किया।

लाल बहादुर शास्त्री *(Lal Bahadur Shastri)*

भारत के दूसरे प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री जी का जन्म 2 अक्टूबर, 1904 को उत्तर प्रदेश के मुगलसराय के रामनगर में कायस्थ परिवार में हुआ था। डेढ़ वर्ष की उम्र में इनके पिताजी की मृत्यु हो गई। वे इतने मेधावी थे कि दस साल की उम्र में ही उन्होंने छठी कक्षा उत्तीर्ण कर ली थी। आगे की पढ़ाई के लिए वह बनारस आ गये। स्कूली जीवन में ही राष्ट्रभक्तों, देशभक्तों और शहीदों के बारे में पढ़ते हुए इन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के विषय में विस्तार से जाना। इन्हीं दिनों जलियाँवाला बाग घटना के बाद छात्र आन्दोलन ने भी गति पकड़ ली थी और शास्त्री जी इसके एक भाग बन गये। महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन चला तो ये उस आंदोलन में मुस्तैदी से कूद पड़े और 1921 में उन्हें जेल जाना पड़ा।

1928 में शास्त्री जी इलाहाबाद म्यूनिसपल बोर्ड के सदस्य चुने गये। उन्होंने आजादी की लड़ाई के दौरान जीवन के कुल 9 साल जेल में काटे। सन् 1937 में प्रांतीय विधानसभाओं के चुनावों में उन्होंने उत्तर प्रदेश विधान सभा की सदस्यता प्राप्त कर ली। 1947 में उन्हें उत्तर प्रदेश मंत्रिमंडल में मंत्री के रूप में शामिल कर लिया गया। उनके काल में पुलिस का रूप परिवर्तन तथा सड़क यातायात का विकास हुआ। सरकार ने इनके परामर्श पर सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण किया। गाँव तक बस सेवा का विस्तार हुआ। सन् 1951 में वह पार्टी-महासचिव बने। वे राज्यसभा के लिए चुने गये और रेल व यातायात के केन्द्रीय मंत्री बने। इसी समय सन् 1955 में दक्षिण भारत के 'अरियाल' के समीप की रेल दुर्घटना जिसमें 150 लोग हताहत हुए थे, का दायित्व लेकर उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। 1957 में वह इलाहाबाद संसदीय क्षेत्र से चुने गये। उन्हें पुन: यातायात विभाग दिया गया और साथ ही साथ उद्योग और वाणिज्य विभागों का भी मंत्री बना दिया गया। सन् 1961 में उन्हें गृह मंत्री बनाया गया। चीन युद्ध से संकट में आये नेहरू का साथ देने के लिए शास्त्री जी को बिना विभाग के मंत्री के रूप में मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया गया। 27 मई, 1964 को नेहरू जी के देहांत के बाद 9 जून, 1964 को शास्त्री जी ने प्रधानमंत्री पद की शपथ ली।

नेहरू का व्यक्तित्व विराट था, उनके निधन से देश में एक मनोवैज्ञानिक शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो गई। इससे प्रोत्साहित होकर राष्ट्र विरोधी तत्त्वों ने सिर उठाना शुरू कर दिया। सन् 1965 में देश के कई भागों में भयानक सूखा भी पड़ा। उस समय अन्न के भंडारण पर ध्यान नहीं देने के कारण यह स्थिति आई। भारत को संकटों में घिरा देख पाकिस्तान ने अचानक गुजरात के कच्छ में आक्रमण शुरू कर दिये। इस पर भारत की जनता इस हमले का मुकाबला करने के लिये तैयारियाँ करने लगी किंतु शास्त्री जी के प्रयासों से कुछ दिनों में ही दोनों देशों के बीच समझौता हो गया और समस्याओं के हल के लिये एक सीमा आयोग बनाने का निर्णय किया गया। सितम्बर, 1965 में अचानक पाकिस्तानी फौज ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। पाकिस्तानी सेना भारतीय इलाकों में तेजी से बढ़ती जा रही थी। इस समय शास्त्री जी ने भारतीय सेना को मुँहतोड़ जवाब देने का आदेश दिया। अब क्या था;

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली 110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91) 8130392358,...
ई मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright Akhil Murti

भारतीय सेना ने पाकिस्तानी सेना को रौंदना शुरू कर दिया और 2-3 दिनों में ही हाजी पीर दर्रे पर तिरंगा फहरा कर लाहौर के हवाई अड्डे को घेर लिया; और तो और चकलाला के हवाई अड्डे को खत्म कर दिया और पाकिस्तान के 260 पैटन टैंकों में से 245 को नष्ट कर दिया। पाकिस्तानी नायक जनरल अय्यूब खान इस पराजय से घबरा गये और समझ गये कि यदि वे युद्ध के मैदान में रूके तो कुछ नहीं बचेगा। तब उन्होंने अमेरिका और सोवियत संघ के माध्यम से शांति की गुहार लगाई। शास्त्री जी ने उस समय 'जय जवान, जय किसान' का नारा दिया और एक छोटा सा भाषण दिया-" मेरे सेनाधिकारियों का मनोबल ऊँचा था; मैंने पीठ थपथपाई और कहा, 'बहादुरों! बढ़ते जाओ" संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव पर भारत पाक के मध्य युद्ध विराम हो गया और दोनों सेनायें जहाँ की तहाँ रूक गयी।

अब सोवियत संघ के प्रधानमंत्री एलेक्सी कोसीजीन ने दोनों देशों को ताशकंद बुलाया। 2 जनवरी, 1966 को शास्त्री जी के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमंडल ताशकंद गया। 3 से 10 जनवरी तक 8 दिनों की बैठक के बाद दोनों देशों में समझौता हुआ जिसे 'ताशकंद समझौता' कहते हैं। इसके अनुसार दोनों देशों के सेनाओं को युद्ध पूर्व स्थान पर लौट जाना था। भारत को उसमें बहुत कुछ खोना पड़ा जो उसने महान आर्थिक व सैनिक क्षति द्वारा प्राप्त किया था। पहले से ही हृदय रोगी रहे शास्त्री जी वह इस सदमे को झेल नहीं पाये और उसी रात उन्हें खतरनाक दिल का दौरा पड़ा और 11 जनवरी 1966 को वे दिवंगत हो गये। शास्त्री जी का जीवन सादगी, कर्तव्यपरायणता, देशप्रेम और नैतिकता का महान उदाहरण है।

भगत सिंह *(Bhagat Singh)*

भगत सिंह का जन्म 27 सितंबर, 1907 को पंजाब के लायलपुर जिला में बंगा गाँव (पाकिस्तान) में एक देशभक्त सिख परिवार में हुआ था; उनके परिवार में पहले से ही उनके चाचा अजित सिंह और स्वर्ण सिंह अंग्रेजों के खिलाफ़ आंदोलन चला चुके थे। वे 14 वर्ष की आयु से ही पंजाब की क्रान्तिकारी संस्थाओं में कार्य करने लगे थे। डी.ए.वी. स्कूल से उन्होंने नौवीं की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1923 में इंटरमीडिएट की परीक्षा पास करने के बाद उन्हें विवाह बन्धन में बांधने की तैयारियाँ होने लगी तो वे लाहौर से भागकर कानपुर आ गये। कानपुर में उन्हें श्री गणेश शंकर विद्यार्थी का हार्दिक सहयोग भी प्राप्त हुआ। देश की स्वतंत्रता के लिए अखिल भारतीय स्तर पर क्रान्तिकारी दल का पुनर्गठन करने का श्रेय भगत सिंह को ही जाता है। उन्होंने कानपुर के 'प्रताप' में बलवंत सिंह के नाम से तथा दिल्ली में 'अर्जुन' के सम्पादकीय विभाग में अर्जुन सिंह के नाम से कुछ समय काम किया और स्वयं को 'नौजवान भारत सभा' से भी सम्बद्ध रखा।

महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन से प्रभावित होकर 1921 में भगत सिंह ने स्कूल छोड़ दिया। असहयोग आंदोलन से प्रभावित छात्रों के लिए लाला लाजपत राय ने लाहौर में 'नेशनल कॉलेज' की स्थापना की थी। इसी कॉलेज में भगत सिंह ने भी प्रवेश लिया। 'पंजाब नेशनल कॉलेज' में उनमें देशभक्ति की भावना फलने-फूलने लगी। इसी कॉलेज में ही यशपाल, भगवती चरण, सुखदेव, तीर्थराम, झण्डा सिंह आदि क्रांतिकारियों से भगत सिंह का संपर्क हुआ। कॉलेज में एक नेशनल नाटक क्लब भी था। इसी क्लब के माध्यम से भगत सिंह ने देशभक्तिपूर्ण नाटकों में अभिनय भी किया। वे 'चन्द्रशेखर आजाद' जैसे महान क्रान्तिकारी के सम्पर्क में आये और बाद में उनके प्रगाढ़ मित्र बन गये। 1928 में 'सांडर्स हत्याकाण्ड' के वे प्रमुख नायक थे। 8 अप्रैल, 1929 का ऐतिहासिक 'असेम्बली बमकाण्ड' के भी वे प्रमुख अभियुक्त माने गये। जेल में उन्होंने 64 दिन लंबी ऐतिहासिक भूख हड़ताल भी की थी। 23 मार्च, 1931 को भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी पर लटका दिया गया। वास्तव में इतिहास का एक अध्याय ही भगतसिंह के साहस, शौर्य, दृढ़ संकल्प और बलिदान की कहानियों से भरा पड़ा है।

भगत सिंह का मानना था कि आजाद भारत में शासन की बागडोर पूंजीपतियों व जमींदारों के हाथों में न होकर मेहनतकश, श्रमिकों व किसानों के हाथों में होनी चाहिए। हिन्दुस्तान सोशलिस्ट एसोसिएशन के घोषणापत्र में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा था कि "भारत साम्राज्यवाद के जुए के नीचे पिस रहा है। इसमें करोड़ों लोग आज अज्ञानता और गरीबी के शिकार हो रहे हैं। भारत की बड़ी जनसंख्या जो मजदूरों और किसानों की है, उनको विदेशी दबाव एवं आर्थिक लूट ने पस्त कर दिया है। भारत के मेहनतकश वर्ग की हालत आज बहुत गम्भीर है। उसके सामने दोहरा खतरा है- पहला, विदेशी पूंजीवाद का और दूसरा, भारतीय पूंजीवाद के धोखे भरे हमले का। भारतीय पूंजीवाद विदेशी पूंजी के साथ हर रोज बहुत से गठजोड़ कर रहा है। कुछ राजनीतिक नेताओं का डोमिनियन (प्रभुता सम्पन्न) का दर्जा स्वीकार करना भी हवा के इसी रूख को स्पष्ट करता है।"

भगत सिंह का मानना था कि "इंकलाब की तलवार विचारों की सान पर तेज होती है।" अपने क्रांतिकारी विचारों के प्रचार के लिए ही उन्होंने ब्रिटिशकालीन संसद में एक ऐसा बम फेंका, जिससे एक भी व्यक्ति हताहत नहीं हुआ, लेकिन उसके धमाके की आवाज लंदन तक पहुँची तथा ब्रिटिश सत्ता थर्रा उठी। उन्होंने संसद में उस दिन पेश होने वाले मजदूर विरोधी "ट्रेड डिस्प्यूट बिल" के नारे लगाये तथा अपने परचे में लिखा कि हम देश की जनता की आवाज अंग्रेजों के उन कानों तक पहुँचाना चाहते हैं, जो बहरे हो चुके हैं।

उन्होंने अपनी शहादत से पहले 2 फरवरी 1931 को "क्रांतिकारी कार्यक्रम का मसविदा" तैयार किया, जिसके कुछ अंश फाँसी लगाये जाने के बाद लाहौर के "द पीपुल" में और इलाहाबाद के "अभ्युदय" में प्रकाशित हुए थे। इस महत्त्वपूर्ण दस्तावेज में उन्होंने

Copyright

भारत में क्रांति की व्याख्या करते हुए भविष्य की रूपरेखा तैयार की, जिसमें सामंतवाद की समाप्ति, किसानों के कर्ज़ समाप्त करना, भूमि का राष्ट्रीयकरण व साझी खेती करना, आवास की गारन्टी, कारखानों का राष्ट्रीयकरण, आम शिक्षा, काम के घन्टे जरूरत के अनुसार कम करना आदि बुनियादी काम बताये गये।

भगत सिंह का मानना था कि एक जुझारू व मजबूत क्रांतिकारी पार्टी के बिना देश में आमूलचूल परिवर्तन असम्भव है। उनका मानना था कि क्रांतिकारी पार्टी के अभाव में पूंजीपति, जमींदार और उनके मध्यवर्गीय टटपूंजिये नेता व नौकरशाह किसी भी कीमत पर श्रमिकों का शासन पर नेतृत्व स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने देश के छात्रों व नौजवानों के नाम जेल से भेजे गये पत्र में आह्वान किया कि वे एक खुशहाल भारत के निर्माण के लिए त्याग और कुर्बानियों के रास्ते को चुनें। उस पत्र की ये पंक्तियाँ आज भी शहीद भगत सिंह के विचारों की क्रांतिकारी मशाल को देश के युवाओं द्वारा सम्भाले जाने की अपील करती हुई प्रतीत होती है- "इस समय हम नौजवानों से यह नहीं कह सकते कि वे बम और पिस्तौल उठायें। आज विद्यार्थियों के सामने इससे भी महत्त्वपूर्ण काम है- क्रांति का यह संदेश देश के कोने-कोने में पहुँचाना। फैक्ट्री-कारखानों, गंदी बस्तियों और गाँवों की जर्जर झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों में इस क्रांति की अलख जगानी है, जिससे आज़ादी आयेगी और तब एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से शोषण असम्भव हो जायेगा।"

राम मनोहर लोहिया *(Ram Manohar Lohia)*

राम मनोहर लोहिया का जन्म 23 मार्च, 1910 को अकबरपुर (वर्तमान में अम्बेडकर नगर जिला, उ.प्र.) में एक अध्यापक व राष्ट्रवादी परिवार में हुआ था। उनके पिताजी गांधी जी के अनुयायी थे। इसके कारण गांधी जी के विराट व्यक्तित्व का उन पर गहरा असर हुआ। लोहिया जी अपने पिताजी के साथ 1918 में अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन में पहली बार शामिल हुए।

विश्व की रचना और विकास के बारे में उनकी अनोखी व अद्वितीय दृष्टि थी इसलिए उन्होंने सदा ही विश्व नागरिकता का सपना देखा था। वे मानव-मात्र को किसी देश का नहीं बल्कि विश्व का नागरिक मानते थे। उनकी चाह थी कि एक से दूसरे देश में आने जाने के लिए किसी तरह की भी कानूनी रुकावट न हो और सम्पूर्ण पृथ्वी के किसी भी अंश को अपना मानकर कोई भी कहीं आ-जा सकने के लिए पूरी तरह आज़ाद हो। लोहिया एक नयी सभ्यता और संस्कृति के द्रष्टा और निर्माता थे।

लोहिया ने मार्क्सवाद और गांधीवाद को मूल रूप में समझा और दोनों को अधूरा पाया, क्योंकि उनके अनुसार इतिहास की गति ने दोनों को छोड़ दिया है और दोनों का महत्त्व युगीन मात्र है। लोहिया की दृष्टि में मार्क्स पश्चिम के तथा गांधी पूर्व के प्रतीक हैं और लोहिया पश्चिम-पूर्व की खाई पाटना चाहते थे। मानवता के दृष्टिकोण से वे पूर्व-पश्चिम, काले-गोरे, अमीर-गरीब, छोटे-बड़े, नर-नारी के बीच की दूरी मिटाना चाहते थे।

लोहिया अनेक सिद्धान्तों, कार्यक्रमों और क्रांतियों के जनक हैं। वे सभी अन्यायों के विरुद्ध एक साथ जेहाद बोलने के पक्षपाती थे। उन्होंने एक साथ सात क्रांतियों का आह्वान किया। वे सात क्रान्तियाँ थीं- नर-नारी की समानता के लिए, चमड़ी के रंग पर रची राजकीय, आर्थिक और दिमागी असमानता के खिलाफ़, संस्कारगत, जन्मजात जातिप्रथा के खिलाफ़ और पिछड़ों को विशेष अवसर के लिए, परदेसी-गुलामी के खिलाफ़ और स्वतन्त्रता तथा विश्व लोक-राज के लिए, निजी पूँजी की विषमताओं के खिलाफ़ और आर्थिक समानता के लिए तथा योजना द्वारा पैदावार बढ़ाने के लिए, निजी जीवन में अन्यायी हस्तक्षेप के खिलाफ़ और लोकतंत्रीय पद्धति के लिए और अस्त्र-शस्त्र के खिलाफ़ और सत्याग्रह के लिए। इन सात क्रांतियों के सम्बन्ध में लोहिया ने कहा कि ये सातों क्रांतियाँ संसार में एक साथ चल रही हैं। अपने देश में भी उनको एक साथ चलाने की कोशिश करना चाहिए। जितने लोगों को भी क्रांति पकड़ में आयी हो उसके पीछे पड़ जाना चाहिए और बढ़ाना चाहिए। बढ़ाते-बढ़ाते शायद ऐसा संयोग हो जाए कि आज का इन्सान सब नाइन्साफियों के खिलाफ़ लड़ता-जूझता ऐसे समाज और ऐसी दुनिया को बना पाये जिसमें आन्तरिक शांति और भरा-पूरा समाज हो।

1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में लोहिया अंग्रेजों को चकमा देकर गिरफ्तारी से बच निकले। अपनी समाजवादी मित्र मण्डली के साथ वे भूमिगत हो गये। भूमिगत रहते हुए भी उन्होंने बुलेटिनों, पुस्तिकाओं, विविध प्रचार सामग्रियों के माध्यम के अलावा समान्तर रेडियो 'कांग्रेस रेडियो' का संचालन करते हुए देशवासियों को अंग्रेजों से लोहा लेने के लिए प्रेरित किया। अगस्त क्रांति के दौरान डॉ. लोहिया के कौशल और साहस से महात्मा गांधी अत्यंत प्रभावित हुए थे। उसके पहले बापू डॉ. लोहिया के कई विचारोत्तेजक लेख, बेबाक टिप्पणियाँ आदि अपने पत्र 'हरिजन' में प्रकाशित भी कर चुके थे। भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य का सूरज डूब रहा था। राष्ट्रीय नेताओं का यह मानना था कि अंग्रेज़ों के जाते ही पुर्तगाली भी गोवा से स्वयं कूच कर जायेंगे, इसलिए वहाँ शक्ति झोंकने की ज़रूरत नहीं। लेकिन डॉ. लोहिया ने वहाँ जाकर आज़ादी की लड़ाई का बिगुल बजा ही दिया। डॉ. लोहिया का समाजवाद गांधी की विचारधारा के अत्यन्त निकट था। आज़ादी के बाद देश साम्प्रदायिकता के संकट में फँस गया तो शांति और सद्भाव कायम करने में डॉ. लोहिया ने गांधी का सहयोग किया। 1956 में डॉ. लोहिया और डॉ. भीमराव अम्बेडकर के बीच निकटता बढ़ने लगी थी। लेकिन 6 दिसम्बर, 1956 को डॉ. अम्बेडकर का निधन होने से उनका राजनीतिक सफर अधूरा रह गया। डॉ. राम मनोहर लोहिया लोगों को आगाह करते आ रहे थे कि देश की हालत को सुधारने में कांग्रेस नाकाम रही है। कांग्रेस शासन नये

Copyright - Akhil Murti

समाज की रचना में सबसे बड़ा रोड़ा है। उसका सत्ता में बने रहना देश के लिए हितकर नहीं है। इसलिए डॉ. लोहिया ने नारा दिया, कांग्रेस हटाओ, देश बचाओ। 1967 के आम चुनाव में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। देश के 9 राज्यों पश्चिम बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, हरियाणा, पंजाब और उत्तर प्रदेश में गैर-कांग्रेसी सरकारें गठित हो गई। डॉ. लोहिया इस परिवर्तन के प्रणेता और सूत्राधार बने। 12 अक्टूबर, 1967 को 57 वर्ष की आयु में उनका देहांत हो गया।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय *(Pandit Deendayal Upadhyaya)*

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का जन्म 25 सितम्बर, 1916 को मथुरा में हुआ था। पंडित उपाध्याय ने पिलानी में इंटरमीडिएट परीक्षा पास की और बी.ए. करने के लिए कानपुर चले गये। वहाँ पर उन्होंने सनातन धर्म कॉलेज में दाखिला लिया। वे सन् 1937 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में आए। वे एम.ए. करने के लिए आगरा चले गये। सन् 1955 में वे उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रांतीय प्रचारक बन गए। उन्होंने लखनऊ में "राष्ट्र धर्म प्रकाशन" नामक प्रकाशन संस्थान की स्थापना की और अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिए एक मासिक पत्रिका "राष्ट्र धर्म" शुरू की। बाद में उन्होंने 'पांचजन्य' (साप्ताहिक) तथा 'स्वदेश' (दैनिक) की शुरुआत की। पंडित दीनदयालजी ने 21 सितम्बर, 1951 को उत्तर प्रदेश का एक राजनीतिक सम्मेलन आयोजित किया और नई पार्टी की राज्य इकाई, भारतीय जनसंघ की नींव डाली। पंडित दीनदयालजी की संगठनात्मक कुशलता बेजोड़ थी। वे 1968 में जनसंघ पार्टी पार्टी के अध्यक्ष पद पर बैठे। दीनदयालजी इस महत्त्वपूर्ण ज़िम्मेदारी को संभालने के पश्चात् जनसंघ का संदेश लेकर दक्षिण भारत गए। 11 फरवरी, 1968 को मुगलसराय में उनकी हत्या कर दी गई।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानववाद का विचार दिया है। इसके अनुसार समाज स्वयंभू है। राज्य एक संस्था के नाते है। राज्य के समान और संस्थायें भी समय-समय पर पैदा होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति इनमें से प्रत्येक संस्था का अंग रहता है। व्यक्ति एकांगी नहीं बल्कि बहुअंगी है परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह अनेक अंगों वाला होकर भी परस्पर सहयोग, समन्वय, पूरकता और एकात्मकता के साथ चल सकता है। जो व्यक्ति इस गुण का ठीक से उपयोग कर ले वह सुखी व जो गुण का ठीक प्रकार से उपयोग न कर सके वह दुखी रहेगा। दीनदयाल उपाध्याय की तत्त्व दृष्टि थी कि भारतीय संस्कृति समग्रतावादी और सार्वभौमिक भी है। पश्चिमी दुनिया में हजारों वाद हैं। पूरा पश्चिमी जगत विक्षिप्त है तथा उसके पास सुस्पष्ट दर्शन का अभाव है। यही अभाव वहाँ के लोगों को भारत की ओर आकर्षित करता है। अमेरिका का प्रत्येक व्यक्ति आनंद की प्यास में भारत की ओर टकटकी लगाये हुए है।

भारत ने सम्पूर्ण सृष्टि रचना में एकत्व देखा है। भारतीय संस्कृति इसीलिए सनातन काल से एकात्मवादी है। सृष्टि के एक-एक कण में परस्परावलम्बन है। भारत ने इसे ही अद्वैत कहा है। भारत ने सभ्यता के विकास में परस्पर सहकार को ही मूल तत्त्व माना है। वस्तुत: एकात्म मानव दर्शन ही है। उन्होंने एकात्म मानव के सर्वांगीण विकास और अभ्युदय के लक्ष्य भी भारतीय दर्शन से ही निरूपित किये।

पंडित जी ने बहुत कुछ लिखा है जिनमें एकात्म मानववाद, लोकमान्य तिलक की राजनीति, जनसंघ का सिद्धांत और नीति, जीवन का ध्येय, राष्ट्र जीवन की समस्यायें, राष्ट्रीय अनुभूति, कश्मीर, अखंड भारत, भारतीय राष्ट्रधारा का पुन: प्रवाह, भारतीय संविधान, इनको भी आजादी चाहिए, अमेरिकी अनाज, भारतीय अर्थनीति, विकास की एक दिशा, बेकारी समस्या और हल, टैक्स या लूट आदि प्रमुख हैं। उनके लेखन का केवल एक ही लक्ष्य था- भारत की विश्व पटल पर लगातार पुर्नप्रतिष्ठा और विश्व विजय। उन्होंने बहुत कम समय में ही सम्राट् चन्द्रगुप्त जैसे चरित्र पर पुस्तक लिखकर भारतीय इतिहास के एक सांस्कृतिक निष्ठा वाले पात्र का चित्रण किया। पंडित जी ने अपने लेखों व भाषणों में राजनीति में शुचिता पर भी विशेष बल दिया है।

इंदिरा गांधी *(Indira Gandhi)*

इंदिरा गांधी का जन्म 19 नवम्बर, 1917 को इलाहाबाद में हुआ था। इनका पूरा नाम 'इंदिरा प्रियदर्शनी गांधी' था। इनके पिता जवाहरलाल नेहरू और माँ कमला नेहरू थी। इन्होंने शांति निकेतन और ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में पढ़ाई की। 1942 में इनका विवाह बिना किसी आडंबर के अत्यंत सादगी के साथ फिरोज गांधी से हुआ। उनके दो पुत्र हुए- राजीव गांधी और संजय गांधी।

फिरोज-इंदिरा गांधी ने 'बाल सहयोग' नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के माध्यम से उत्पाद का सहकारिता के आधार पर विक्रय किया जाता था। इंदिरा गांधी ने इंडियन काउंसिल ऑफ चाइल्ड वेलफेयर' 'इंटरनेशनल काउंसिल ऑफ चाइल्ड वेलफेयर' तथा 'कमला नेहरू स्मृति अस्पताल' जैसी संस्थाओं में विभिन्न दायित्व स्वीकार करते हुए परोपकारी कार्यों को अंजाम दिया। वे नेहरू जी के राजनीतिक कार्यों में भी उनकी सहयोगिनी बनी रहीं। 1952 में इंदिरा गांधी को 'मदर्स अवार्ड' से सम्मानित किया गया।

कांग्रेस पार्टी की कार्यकारिणी में वह 1955 में शामिल हुईं। 1959 में महज 42 साल की इंदिरा को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने उन्हें सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय सौंपा। शास्त्री जी की असामयिक मृत्यु के 13 दिन बाद 24 जनवरी, 1966 को इंदिरा गांधी ने प्रधानमंत्री पद की शपथ ग्रहण की। उस समय देश में विभिन्न प्रकार की चुनौतियाँ और संकट थे। पिछले तीन वर्षों में भारत पर दो युद्ध थोपे गए थे। उनके कारण देश की आर्थिक स्थिति काफी कमजोर थी और गिरावट का

रुख था। औद्योगिक उत्पादन और खाद्यान्न का संकट सामने था। इंदिरा गांधी ने खाद्यान्न वितरण प्रणाली की कमियों को भी दूर किया जिससे गंभीर संकट का समय टल गया और भुखमरी से होने वाली मौतें कम हो गई। जून, 1966 में इंदिरा गांधी द्वारा डॉलर की तुलना में रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया। इंदिरा गांधी ने देश की खाद्यान्न स्थिति को संभालने के लिए शास्त्री जी द्वारा आरंभ की गई 'हरित क्रांति योजना' का सहारा लिया।

इंदिरा गांधी ने इस कठिन समय में अमेरिका से मदद मांगी लेकिन उसने भारत से वियतनाम युद्ध में समर्थन की शर्त रख दी। इस कठोर संकट में उन्होंने दिलेरी का परिचय देते हुये शर्त को अस्वीकार कर दिया। इससे अमेरिका भारत से नाराज हो गया लेकिन इंदिरा गांधी ने इसकी कोई परवाह नहीं की और सोवियत संघ से मित्रता बढ़ा दी जिसका आगे चलकर भारत को बहुत लाभ हुआ। यही उस समय की विदेशी नीति और कूटनीति की मांग थी। समस्त विश्व दो महाशक्तियों के समर्थन में बँटा हुआ था। इंदिरा गांधी ने वक्त की जरूरत को देखते हुए यह समझ लिया कि गुटनिरपेक्ष देशों के संगठन को अधिक मजबूत बनाने की आवश्यकता है ताकि किसी भी संकट को आपसी सहयोग और राजनीतिक इच्छा शक्ति से दूर किया जा सके। उन्होंने देश के 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया ताकि वे सरकार की आर्थिक नीति के अनुसार आचरण कर सकें। भूतपूर्व राजा-महाराजाओं को जो बड़ी राशि प्रिवी पर्स के रूप में मिलती आ रही थी, इंदिरा गांधी ने उसकी समाप्ति की घोषणा कर दी। इन दो बड़े कदमों के कारण जनता के मध्य इंदिरा गांधी की एक सुधारवादी प्रधानमंत्री की छवि कायम हुई और उनकी लोकप्रियता बढ़ गई। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद भारत सरकार की राष्ट्रीय आर्थिक नीति के अंतर्गत सामाजिक सरोकार के कार्य होने लगे। मध्यम वर्ग तथा अल्प मध्यम वर्ग के लोगों को रोजगारपरक ऋण मिलने का मार्ग साफ हो गया। भूमि हदबंदी योजना को पूरी शक्ति के साथ लागू किया गया। इससे गरीब किसानों को अच्छा लाभ मिला। इस प्रकार इंदिरा गांधी ने लोक कल्याणकारी कार्यों के माध्यम से जनता के मध्य अपनी एक नई पहचान कायम की।

लेकिन उनके विश्वस्त सांसदों की स्थिति पर्याप्त नहीं थी। वह चाहती थी कि नए विधेयकों के लिए उन्हें दूसरी पार्टियों का मुँह न ताकना पड़े। इस प्रकार चुनाव से पूर्व इंदिरा गांधी ने अपना आभामंडल तैयार किया और 27 दिसंबर, 1970 को लोकसभा भंग करके मध्यावधि चुनाव का मार्ग प्रशस्त कर दिया। एक वर्ष पूर्व लोकसभा भंग करने का उनका निर्णय साहसिक था। इंदिरा गांधी के पक्ष में चुनावी माहौल बनने लगा और इंदिरा गांधी को बहुतमत प्राप्त हो गया। उन्हें 518 में से 352 सीटों की प्राप्ति हुई।

1971 के अंत में पूर्वी पाकिस्तान के एक करोड़ शरणार्थी भारत में प्रविष्ट हो चुके थे। इन शरणार्थियों की उदर पूर्ति करना तब भारत के लिए एक समस्या बन गई थी। ऐसी स्थिति में भारत ने पाकिस्तान के बर्बर रुख के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवता के हित में आवाज बुलंद की। इसके जवाब में पाकिस्तान ने 3 दिसंबर, 1971 को भारत के वायु सेना ठिकानों पर हमला करते हुए उसे युद्ध का न्यौता दे दिया। इंदिरा गांधी के महान नेतृत्व में भारत की जवाबी कार्रवाई से पाकिस्तान को न केवल पराजय का सामना करना पड़ा बल्कि उसे पूर्वी पाकिस्तान से भी हाथ धोना पड़ा। मजबूरन पाकिस्तान के प्रधानमंत्री जुल्फिकार अली भुट्टो को भारत से समझौता करने शिमला आना पड़ा।

पाकिस्तान से युद्ध के बाद इंदिरा गांधी ने अपना सारा ध्यान देश के विकास की ओर केंद्रित किया। संसद में उन्हें बहुमत प्राप्त था और निर्णय लेने में स्वतंत्रता थी। उन्होंने ऐसे उद्योगों को रेखांकित किया जिनका कुशल उपयोग नहीं हो रहा था। उनमें से एक बीमा उद्योग और दूसरा कोयला उद्योग था। अगस्त, 1972 में बीमा कारोबार का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इसी प्रकार कोयला उद्योग में भी श्रमिकों का शोषण किया जा रहा था। कोयला एक परंपरागत ऊर्जा का स्रोत था और उसकी बर्बादी की जा रही थी। इंदिरा गांधी ने कोयला उद्योग का भी जनवरी, 1972 में राष्ट्रीयकरण कर दिया। उनके इन दोनों कार्यों को अपार जनसमर्थन प्राप्त हुआ। हदबंदी कानून को पूरी तरह लागू किया गया। अतिरिक्त भूमि को लघु कृषकों एवं भूमिहीनों के मध्य वितरित किया गया। केंद्र की अनुशंसा पर राज्य सरकारों ने भी विधेयक पारित करके इन कानूनों को राज्य में लागू करने का कार्य किया। आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों को सस्ती दरों पर खाद्यान्न प्रदान करने की योजना का शुभारंभ किया गया। ग्रामीण बैंकों की स्थापना अनिवार्य की गई और उन्हें यह निर्देश दिया गया कि किसानों एवं कुटीर उद्योगों की स्थापना करने वाले लोगों को सस्ती ब्याज दर पर पूंजी उपलब्ध करवाएं। ज्वाइंट स्टॉक कंपनियों द्वारा जो राजनीतिक चंदा प्रदान किया जाता था, उस पर रोक लगा दी गई ताकि धन का नाजायज उपयोग रोका जा सके।

रणनीतिक मोर्चे पर इंदिरा गांधी की एक अतुलनीय उपलब्धि परमाणु बम बनाने की क्षमता हासिल करने के लिए राजस्थान के पोखरण में परमाणु विस्फोट किया जाना है। उन्होंने सभी प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय दबावों को एक झटके में दरकिनार करते हुए देशहित में यह फैसला किया। उनकी सरकार को हड़ताल के रूप में बहुत सी चुनौतियों का सामना करना पड़ा। सरकारी कर्मियों के रूप में सबसे बड़ी हड़ताल रेल कर्मचारियों की थी। हड़तालियों से सख्ती से निपटने के कारण एक वर्ग उनसे नाराज भी हो गया। इस असंतोष की पहली झलक गुजरात में दिखी जहाँ छात्रों ने हिंसक आंदोलन शुरू कर दिये। इसका विस्तार बिहार में हुआ।

मार्च, 1974 में छात्रों ने बिहार विधानसभा का घेराव किया। छात्र आंदोलन को कुचलने के लिए पुलिस ने लाठी तथा गोली का भी बेझिझक प्रयोग किया। इस आंदोलन में विपक्षी दलों ने छात्रों का साथ देना शुरू किया। ऐसे में हिंसक आंदोलन आरंभ हो गए तथा एक सप्ताह में ही दो दर्जन से अधिक लोग अपनी जिंदगी से हाथ धो बैठे। स्वतंत्रता सेनानी जयप्रकाश नारायण ने आंदोलन

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91) 8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

Copyright - Akhil Murti

की कमान संभाली। इसी बीच इंदिरा गांधी पर इलाहाबाद उच्च न्यायालय में एक मुकदमा चल रहा था जो चुनाव में गलत साधन अपनाकर विजय हासिल करने से संबंधित था। 12 जून, 1975 को राजनारायण द्वारा दायर किए गए मुकदमे के फैसले से न केवल चुनाव रद्द किया गया बल्कि उन्हें छह वर्षों के लिए चुनाव लड़ने से भी प्रतिबंधित कर दिया गया। उन पर आरोप था कि उन्होंने चुनाव में सरकारी मशीनरी का दुरुपयोग किया था और निर्वाचन आयोग द्वारा निर्धारित राशि से अधिक राशि का व्यय चुनाव प्रचार में किया था। इंदिरा गांधी ने 25 जून, 1975 को तत्कालीन राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद से आपातकाल लागू करने की हस्ताक्षरित स्वीकृति प्राप्त कर ली और 26 जून, 1975 की प्रातः देश में आपातकाल की घोषणा कर दी गई। आपातकाल लागू होने के बाद जय प्रकाश नारायण, मोरारजी देसाई और अन्य सैकड़ों छोटे-बड़े नेताओं को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया। ऐसा माना जाता है कि आपातकाल के दौरान एक लाख व्यक्तियों को देश के विभिन्न जेलों में बंद किया गया था। इनमें मात्र राजनीतिक व्यक्ति ही नहीं, आपराधिक प्रवृत्ति के लोग भी थे जिन्होंने आंदोलन के समय लूटपाट किया था। साथ ही भ्रष्ट कालाबाजारियों और हिस्ट्रीशीटर अपराधियों को बंद कर दिया गया। आपातकाल से सरकारी मशीनरी कार्यप्रणाली में बहुत सुधार हुआ और भ्रष्टाचार पर लगाम लग गई। लेकिन साथ ही पुलिस ने निरंकुश व्यवहार किया जिससे लोगों में नाराजगी भर गई। दूसरी समस्या सेंसरशिप की थी जिसे कठोरतापूर्वक लागू किया गया। सत्ता में बैठे कुछ लोगों के अतिउत्साह में कार्य करने जैसे नसबंदी आदि ने भी लोगों की मुश्किलों में इजाफा कर दिया। आपातकाल के बाद हुए चुनावों में उनकी पार्टी सत्ता से बाहर हो गई। नव गठित जनता पार्टी और उसके सहयोगी दलों को 542 में से 300 सीटें प्राप्त हुईं। इंदिरा गांधी की पार्टी मात्र 154 स्थानों पर ही विजय प्राप्त कर सकी। हालाँकि दक्षिण भारत में उन्हें पहले की तुलना में 22 सीटें अधिक मिलीं और आँकड़ा 70 से बढ़कर 92 हो गया।

इंदिरा गांधी पर जनता पार्टी के शासनकाल में अनेक आरोप लगाए गए और कई कमीशन जाँच के लिए नियुक्त किए गए। इनमें 'शाह कमीशन' सबसे उल्लेखनीय माना जाता है। आपातकाल में तथाकथित आपराधिक कार्यों के लिए उन पर देश की कई अदालतों में मुकदमे कायम किए गए। सरकारी भ्रष्टाचार के आरोप में श्रीमती गांधी कुछ समय तक जेल में रहीं। सत्तारूढ़ जनता पार्टी में अंतर्कलह के कारण अगस्त, 1979 में सरकार गिर गई। अभी तीन वर्ष भी पूर्ण नहीं हुए थे कि जनता पार्टी में दरारें पड़ गई और देश को मध्यावधि चुनाव का भार झेलना पड़ा। चुनाव में इंदिरा कांग्रेस को 592 में से 353 सीटें प्राप्त हुईं और स्पष्ट बहुमत के कारण केंद्र में इनकी सरकार बनी। इंदिरा गांधी पुनः प्रधानमंत्री बन गईं। इस प्रकार 34 महीनों के बाद वह सत्ता पर दोबारा काबिज हुईं।

23 जून, 1980 को प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के छोटे पुत्र संजय गांधी की वायुयान दुर्घटना में मृत्यु हो गई। पंजाब में भिंडरावाले के नेतृत्व में अलगाववादी ताकतें सिर उठाने लगीं। एक बार फिर इंदिरा गांधी ने कठोर फैसला लेते हुये स्वर्ण मन्दिर में छिपे आतंकवादियों को बाहर निकालने के लिए सेना की कार्रवाई यानी ऑपरेशन ब्लू स्टार को मंजूरी दे दी। इसके कुछ महीने बाद 31 अक्टूबर, 1984 को श्रीमती गांधी के आवास पर तैनात उनके अंगरक्षकों ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी।

भारत के जितने भी प्रधानमंत्री हुए हैं, उन सभी की अनेक विशेषताएँ हो सकती हैं, लेकिन इंदिरा गांधी के रूप में जो प्रधानमंत्री भारत भूमि को प्राप्त हुआ, वैसा प्रधानमंत्री अभी तक दूसरा नहीं हुआ है क्योंकि एक प्रधानमंत्री के रूप में उन्होंने विभिन्न चुनौतियों का मुकाबला करने में सफलता प्राप्त की। युद्ध हो, विपक्ष की गलतियाँ हों, कूटनीति का अंतर्राष्ट्रीय मैदान हो अथवा देश की कोई समस्या हो, इंदिरा गांधी ने अक्सर स्वयं को सफल साबित किया। इंदिरा गांधी, नेहरू द्वारा शुरू की गई औद्योगिक विकास की अर्द्ध समाजवादी नीतियों पर कायम रहीं। उन्होंने सोवियत संघ के साथ नजदीकी सम्बन्ध कायम किए और पाकिस्तान-भारत विवाद के दौरान समर्थन के लिए उसी पर आश्रित रहीं। जिन्होंने इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल को देखा है, वे लोग यह मानते हैं कि इंदिरा गांधी में अपार साहस, निर्णय शक्ति और धैर्य था।

विश्वनाथ प्रताप सिंह *(Vishwanath Pratap Singh)*

विश्वनाथ प्रताप सिंह का जन्म 25 जून, 1931 को उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले में दहिया राजपरिवार में हुआ था। बाद में स्थानीय रियासत मांडा के नरेश ने उन्हें गोद लिया था और वह मांडा के नरेश भी बने। श्री सिंह को देश का प्रधानमंत्री बनने का गौरव भी प्राप्त हुआ। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री काल में उनका दस्यु उन्मूलन अभियान काफी चर्चा में रहा।

विश्वनाथ प्रताप सिंह ने इलाहाबाद और पूना विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। वे 1947-1948 में उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी में छात्र संघ के अध्यक्ष रहे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में छात्र संघ के उपाध्यक्ष भी रहे। 1957 में उन्होंने भूदान आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाई और अपनी बहुत-सी ज़मीनें दान में दे दीं। विश्वनाथ प्रताप सिंह को अपने विद्यार्थी जीवन में ही राजनीति से दिलचस्पी हो गई थी। उन्हें युवाकाल की राजनीति में बेहद सफलता प्राप्त हुई। फिर वह कांग्रेस पार्टी से जुड़ गये और 1969-1971 में वह उत्तर प्रदेश विधानसभा में पहुँचे। उन्होंने उत्तर प्रदेश में मुख्यमंत्री का कार्यभार भी सम्भाला। उनका मुख्यमंत्री कार्यकाल 9 जून, 1980 से 28 जून, 1982 तक रहा। इसके पश्चात वह जनवरी, 1983 में केन्द्रीय वाणिज्य मंत्री बने। विश्वनाथ प्रताप सिंह राज्यसभा के भी सदस्य रहे। भारतीय राजनीति के परिदृश्य में विश्वनाथ प्रताप सिंह उस समय वित्तमंत्री थे जब तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी के साथ उनका टकराव हुआ। बोफोर्स कांड के उजागर होने के साथ ही उनका कद भारतीय राजनीति में बढ़ने लगा और उनके कदम प्रधानमंत्री पद की ओर बढ़ गये। वीपी के नाम से मशहूर सिंह ने 1989 के संसदीय चुनाव के बाद भाजपा और

Copyright Akhil Murti

वामदलों के सहयोग से केंद्र सरकार बनाई। देश के इतिहास में ऐसा दूसरी बार हुआ कि कांग्रेस पार्टी सत्ता से बाहर हो गई। प्रधानमंत्री के रूप में सिंह ने मंडल आयोग की सिफारिशें लागू करने का फैसला किया जो भारतीय राजनीति में 'निर्णायक मोड़' साबित हुआ। इसी दौरान आरक्षण विरोधी अभियान के बारे में उनके रुख के कारण वह समाज के एक वर्ग में अलोकप्रिय भी हुए। अयोध्या के विवादित ढाँचे के मसले पर जब भाजपा ने उनसे समर्थन वापस लिया तो उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा। प्रधानमंत्री पद से हटने के कुछ ही समय बाद भले ही उन्होंने अपने खराब स्वास्थ्य के कारण चुनावी राजनीति से संन्यास ले लिया लेकिन जब भी देश में तीसरे विकल्प का कोई प्रयास किया गया, वीपी हमेशा अग्रिम पंक्ति में दिखाई दिए। राजनीति के अलावा वीपी के व्यक्तित्व का रचनात्मक पक्ष उनकी कविताओं और चित्रकला के माध्यम से सामने आता है। अपनी कविताओं में वह एक बौद्धिक लेकिन संवेदनशील रचनाकार के रूप में गहरी छाप छोड़ते हैं। गुर्दे और कैंसर से लंबे समय तक जूझने के बाद वीपी का 27 नवंबर 2008 को निधन हो गया।

विश्वनाथ प्रताप सिंह को देश की राजनीति को एक नया कलेवर देने का श्रेय दिया जाता है। उनके प्रयासों के कारण विभिन्न क्षेत्रों में कई बुनियादी फर्क आए। इससे एक ओर जहाँ संसद का चेहरा बदल गया वहीं राजनीति आम लोगों की ओर अग्रसर हुई। उस समय तक संसद में उच्च वर्ग के लोगों का वर्चस्व रहता था लेकिन उनके कार्यकाल में भारतीय भाषाओं में बातचीत करने वाले लोगों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। जिन क्षेत्रों में पिछड़े और समाज के अन्य वर्ग का प्रवेश आसान नहीं था, विश्वनाथ प्रताप सिंह के प्रयासों के कारण वहाँ भी उनकी पहुँच सुगम हो गई। मंडल मुद्दे के कारण पहली बार सामाजिक न्याय बहस का मुद्दा बना और जातिगत विषमता में कमी आई। विश्वनाथ प्रताप सिंह के प्रयासों का असर भारतीय राजनीति में दलित और अत्यंत पिछड़े वर्ग की स्थिति पर स्पष्ट दिखता है। भारत में समतामूलक समाज की बात 1930 से ही की जा रही थी और 1932 में दक्षिण भारत में एक आंदोलन भी चला था। लेकिन सामाजिक स्तर पर आर्थिक या संरचनात्मक सुधार नहीं हो पाया। श्री सिंह ने राजनीति में अभिनव प्रयोग किया। उनके प्रयासों के कारण राजनीति आम लोगों की ओर गई और राजनीतिक चेतना बढ़ी। उसी का नतीजा है कि अत्यंत पिछड़े वर्ग 'पावर ब्लॉक' बन कर उभरे और राजनीति में उनकी हिस्सेदारी बढ़ी।

कांशी राम *(Kanshi Ram)*

कांशी राम का जन्म 15 मार्च, 1934 को पंजाब के रोपड़ जिले में हुआ था। स्वभाव से सरल और इरादे के पक्के कांशी राम की कर्मयात्रा 60 के दशक से प्रारंभ हुई।

पुणे में एक्सप्लोसिव रिसर्च एंड डवलपमेंट लेबोरेटरी के दौरान बिना कारण बताए जब विभाग ने अंबेडकर और बुद्ध जयंती की दो छुट्टियों को निरस्त कर दिया तो उन्होंने इसका प्रतिकार करना अपना नैसर्गिक कर्त्तव्य समझा। न्यायालय की शरण ली और निरस्त छुट्टियों को बहाल कराया, लेकिन वे इससे संतुष्ट नहीं हुए। उनका मकसद इस क्षणिक कामयाबी को स्थायी बनाना था। इसके लिए उन्होंने सर्जनात्मक जिद का सहारा लिया। इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक भारतीय समाज में जाति व्यवस्था, आर्थिक असमानता और वर्ग विभेद बना रहेगा, तब तक समाज के अंतिम पंक्ति के अंतिम व्यक्ति को न्याय और अधिकार नहीं मिल सकता। तब उन्होंने 70 के दशक के शुरुआती दिनों में पुणे में रक्षा विभाग की नौकरी छोड़ दी। इसके बाद वह महाराष्ट्र में दलितों की राजनीति में दिलचस्पी लेने लगे।

वर्ष 1978 में कांशी राम ने 'बामसेफ' नामक संगठन बनाया। इसके माध्यम से वे सरकारी नौकरी करने वाले दलित, शोषित समाज के लोगों से एक निश्चित धनराशि लेकर समाज के हितों के लिए संघर्ष करते रहे। वर्ष 1981 में उन्होंने 'दलित शोषित संघर्ष समाज समिति' या डीएस-4 की स्थापना की। इस संगठन के बैनर तले उन्होंने कन्याकुमारी से लेकर दिल्ली तक की यात्रा की। सौ दिन की इस यात्रा ने उन्हें वंचितों के करीब ला दिया और शीघ्र ही वे मसीहा बन गए। लोगों के अपार समर्थन से उत्साहित होकर उन्होंने 14 अप्रैल, 1984 को बहुजन समाज पार्टी की नींव डाली। इस राजनीतिक विकल्प ने देश के जमे-जमाए राजनीतिक दलों को चुनौती देना शुरू कर दिया और समाज की खदबदाहट बढ़ गयी। उनके नेतृत्व में 1984 के लोकसभा चुनाव में बीएसपी ने 10 लाख से अधिक मत हासिल किये, लेकिन कांशीराम का मकसद सिर्फ सत्ता तक पहुँचना नहीं था, बल्कि उसे माध्यम बनाकर वंचितों को हक दिलाना उनकी प्राथमिकता में शुमार था। उन्होंने बाबा साहब के इस सिद्धांत को माना कि 'सत्ता ही सभी चाबियों की चाबी है।'

कांशी राम चुनाव लड़ने से कभी पीछे नहीं हटे। उनका मानना था कि चुनाव लड़ने से पार्टी मजबूत होती है, उसकी दशा सुधरती है तथा जनाधार बढ़ता है। कांशी राम किसी आरोप से विचलित नहीं होते थे। अपने संगठन के द्वारा जो भी धन उनके पास आता था उसमें से उन्होंने कभी भी एक रुपया अपने परिवार वालों को नहीं दिया और न अपने किसी निजी कार्य में खर्च किया। वर्ष 1993 में पहली बार इटावा संसदीय सीट से चुनाव जीतकर लोकसभा में पहुँचे। वर्ष 1993 में उत्तरप्रदेश में उनके समर्थन से सरकार बनी लेकिन 1995 में बसपा ने समर्थन वापस ले लिया। तब बसपा ने अन्य दलों के सहयोग से पहली बार किसी राज्य में सरकार बनाई। यह उनके संगठन के लिए स्वर्णिम अवसर था।

कांशी राम ने पार्टी और दलितों के हित के लिये सभी दलों से मित्रता करके नई राह अपनाई। उन्होंने हमेशा सभी से सहयोग लेने और देने की कोशिश की जिसका उनके दल को बहुत लाभ हुआ। उनका कहना था कि राजनीति में आगे बढ़ने के लिए यह

Copyright Akhil Murti

सब जायज है। कांशी राम का राजनीतिक दर्शन था कि अगर सर्वजन की सेवा करनी है तो हर हाल में सत्ता के करीब ही रहना है। सत्ता में होने वाली प्रत्येक उथल-पुथल में भागीदारी बनानी है। बसपा आज भी उनके राजनीतिक दर्शन के साथ है।

अन्ना हजारे *(Anna Hazare)*

अन्ना हजारे का जन्म 15 जून, 1937 को महाराष्ट्र के अहमद नगर के भिंगर कस्बे में एक गरीब परिवार में हुआ था। बाद में उनका परिवार अपने पैतृक गाँव रालेगाँव सिद्धि आ गया। बाद में अपनी बुआ के साथ वे मुंबई आ गये। अन्ना हजारे ने मुंबई में सातवीं तक पढ़ाई की और फौज में भर्ती हो गये। फौज में काम करते हुए अन्ना पाकिस्तानी हमलों से बाल-बाल बचे थे। एक बार उन्होंने नई दिल्ली रेलवे स्टेशन से विवेकानंद की एक पुस्तक 'कॉल टू द यूथ फॉर नेशन' खरीदी और उसको पढ़ने के बाद उन्होंने अपनी जिंदगी समाज को समर्पित कर दी। उन्होंने गांधी और विनोबा को भी पढ़ा और उनके शब्दों को अपने जीवन में ढाल लिया। अन्ना हजारे ने इसके बाद आजीवन अविवाहित रहने का निश्चय किया। 1975 में वे फौज की नौकरी से सेवानिवृत्ति ले कर गाँव वापस चले गये।

अन्ना हजारे का मानना है कि देश की असली ताकत गाँवो में है और इसीलिए उन्होंने गाँवो में विकास की लहर लाने के लिए मोर्चा खोल दिया। यहाँ तक की उन्होंने खुद अपनी पुस्तैनी जमीन बच्चों के हॉस्टल के लिए दे दी। अन्ना हजारे ने 1975 से सूखा प्रभावित रालेगाँव सिद्धि में काम शुरू किया। वर्षा जल संग्रह, सौर ऊर्जा, बायो गैस और पवन ऊर्जा के उपयोग से गाँव को स्वावलंबी और समृद्ध बना दिया दिया। यह गाँव विश्व के अन्य समुदायों के लिए आदर्श बन गया है।

1998 में अन्ना हजारे उस समय अत्यधिक चर्चा में आये जब उन्होंने राज्य सरकार के दो नेताओं पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ्तार करने के लिए आवाज उठाई थी। इसी तरह 2005 में अन्ना हजारे ने कांग्रेस सरकार पर उसके चार भ्रष्ट नेताओं के खिलाफ कार्रवाई के लिए दबाव डाला था। अन्ना की कार्यशैली बिल्कुल गांधी जी की तरह है जो शांत रहकर भी भ्रष्टाचारियों पर जोरदार प्रहार करती है। दिल्ली में 2011 में अन्ना हजारे ने जनलोकपाल विधेयक लाने की मांग को लेकर अभूतपूर्व प्रदर्शन किया।

अन्ना हजारे की समाजसेवा और समाज कल्याण के कार्य को देखते हुए सरकार ने उन्हें 1990 में पद्मश्री से सम्मानित किया था और 1992 में उन्हें पद्मविभूषण से भी सम्मानित किया जा चुका है।

विश्व के महान नेता *(Great Leaders of the World)*

अब्राहम लिंकन *(Abraham Lincoln)*

12 फरवरी, 1809 को अमेरिका के केन्टकी प्रांत के एक गाँव के खेत में बनी झोपड़ी में जन्मे अब्राहम लिंकन का व्यक्तित्व अत्यंत अद्भुत और अति प्रेरणादायी है। इनके जीवन की कहानी केवल किसी प्रतिभाशाली एवं महान व्यक्ति की कहानी तक सीमित नहीं है, बल्कि यह लगातार प्रयत्न से तैयार हुआ महान व्यक्तित्व है। इन्हें ताकत की जोर-आजमाइश के काल में अपनी सरल, करुणा, दयालुता के साथ दासों को सामान्य जन की गरिमा दिलाने की लड़ाई लड़ने और उसमें विजयी होने तथा अमेरिकी गृहयुद्ध को समाप्त करके शांति लाने का श्रेय प्राप्त है।

अब्राहम लिंकन के माता-पिता की उनके बाल्यकाल में मृत्यु हो जाने के बाद उनकी बड़ी बहन ने उनकी देखभाल की। उनके पिता एक साधारण किसान थे और बढ़ई का काम जानते थे। लिंकन ने भी उनसे बचपन में किसानी और बढ़ाई का काम समझा लेकिन पिता का असमय निधन हो जाने के कारण वे इसे पूरा सीख नहीं सके। लिंकन ने अपने सद्‌गुणों का श्रेय हमेशा अपनी माँ को दिया। वे कहते थे आज जो सद्‌गुण या खूबियाँ उनमें लोग देखते हैं, वे सब उसी की देन हैं। माँ से मिली शिक्षा के कारण ही उन्होंने स्वयं को महज धनवान बनाने का सपना नहीं देखा। वे कहते थे कि संपत्ति एक ऐसी विलासिता है जिसकी किसी को जरुरत नहीं होनी चाहिए।

लिंकन की स्कूली शिक्षा एक साल से कम रही लेकिन अपने श्रमशील जीवन में भी उन्होंने अध्ययन के लिए हमेशा समय निकाला। किशोर वय में बहुत से लोगों की तरह वे भी कविताएँ लिखते थे। अपने काम के संदर्भ में की गई यात्राओं के दौरान उन्होंने नीग्रो लोगों को जंजीरों से बंधा और कोड़ों से पिटते देखा। उन्होंने यह भी देखा कि जबरन गुलाम बना ली गई महिलाओं को बोली लगा कर बेचा जा रहा था। उसने लिंकन पर गहरा प्रभाव डाला और उनके मन में दासप्रथा के खिलाफ गहरी धारणा बन गई।

लिंकन ने आजीविका कमाने के लिए बहुत संघर्ष किया। दुकान में सहायक की नौकरी से लेकर, नाव चलाने, लोहे की छड़ें काटने और दंगल लड़ने तक के काम को करने में उन्होंने कोई गुरेज नहीं किया। इतने सारे रोजगारों के बाद भी लिंकन ने पढ़ना नहीं छोड़ा। कपड़ों की दुकान में खाली समय में वह गणित के सवाल हल करने लगते। धीरे-धीरे उन्होंने कानून की पढ़ाई शुरू की और मौका मिलने पर रोटी के लिए सैनिक टुकड़ी की कप्तानी भी की। धीरे-धीरे लिंकन में अध्ययन की आदत पड़ती गयी लेकिन उनका व्यवसाय कमजोर हो गया। उनकी रुचि मशीनों में भी थी और उन्होंने अपनी एक खोज का पेटेंट भी करवाया।

Copyright Akhil Murti

25 साल की उम्र में उन्होंने राजनीतिक जीवन आरंभ कर दिया था। संवैधानिक समस्याओं के निपटारे और अन्य नैतिक मसलों में उनकी हमेशा रुचि रहती थी। इस बीच उन्होंने सर्वेक्षण का काम भी सीखा और इस पर किताब भी लिख दी। जब तक उनका वकालत का पेशा नहीं जमा तब तक वे सर्वेक्षण का काम करते रहे। यही नहीं वकालत जमने के पूर्व उन्होंने पोस्टमास्टर की सरकारी नौकरी की और सेना में भी काम किया। सेना में कप्तानी और पोस्टमास्टरी के बीच एक बार लिंकन ने स्थानीय सभा का चुनाव भी लड़ा लेकिन वे हार गये। लिंकन के इस पहले चुनाव में दिए गए भाषण को देखना खासा रोचक लगता है, वह कहते हैं- 'मैं विनम्र अब्राहम लिंकन हूँ। मेरी राजनीति छोटी सी है, और बुढ़िया के नृत्य की तरह मनोरंजक भी है। यदि चुन लिया गया तो मैं आपका शुक्रगुजार रहूँगा और यदि नहीं चुना गया तो भी मुझे आपसे कोई शिकायत नहीं।' 1834 में लिंकन ने पुनः चुनाव लड़ा। इस बार वे चुनाव जीत गये और आगे लगातार तीसरी बार वे चुने गए। सभा के लिए चुने जाने के आरंभिक दौर में लिंकन ने लोगों को सुनने में समय दिया। बाद में धीरे-धीरे आत्मविश्वास प्राप्त कर उन्होंने भाषण देना शुरू किया। अपने भाषणों में वे साहस के साथ अपनी बातें रखते थे और बुद्धिमानी से नियंत्रित अवसरवाद को जगह देते थे।

सन् 1836 में दास प्रथा की समाप्ति के लिए आंदोलन आरंभ हो गया था। लिंकन भी इसके पक्ष में थे। तमाम प्रबुद्ध लोगों की तरह लिंकन भी चीजों को उसके द्वंद्वात्मक स्वरूप और सामयिक संदर्भों में देखने की कोशिश करते थे। दास प्रथा, ईश्वर और शराबियों के बारे में उनका वक्तव्य उधृत करने योग्य है। वे कहते हैं- 'प्रभु ने स्वयं निम्न व पतित व्यक्तियों में भी अपना स्वरूप प्रकट किया है, तो ऐसे व्यक्तियों की निंदनीय मृत्यु होने पर भी उन्हें अंत में मुक्ति प्रदान करने में उसे अस्वीकृति नहीं होगी। मेरी राय में हम लोग जो ऐसे बुरे व्यसनों से बचे हुए हैं, उसका कारण यह है कि हममें इस तरह की भूख नहीं जागी है। इसका अर्थ यह तो नहीं कि जिन लोगों में ये व्यसन हैं उनसे हम बुद्धि और चरित्र में सर्वोपरि हैं। सचमुच यदि देखा जाए, मसलन शराबी वर्ग को ही लिया जाए तो उनको बुद्धि और हृदय की विशालता की दूसरे वर्गों से तुलना की जा सकती है।'

1848 से 1854 के बीच लिंकन राजनीति से दूर रहे। इस बीच उन्होंने अपने वकालत के पेशे पर ज़्यादा ध्यान दिया। इस दौरान लिंकन का अलग व्यक्तित्व उभरा। जिन मुकदमों को उसकी आत्मा स्वीकार नहीं करती थी उन्हें वे नहीं लेते थे या बीच में छोड़ देते थे। लिंकन इस ख्याल को एकदम गलत मानते थे कि कानून के धंधे में थोड़ी-बहुत बेईमानी चलती है। जब लिंकन को दोबारा राजनीति के क्षेत्र से आने का अवसर मिला तो वे ज्यादा प्रबुद्ध और राजनीति के कठोर मैदान में चलने योग्य हो चुके थे। वे फिर इलिनॉयस की सभा का सदस्य चुन लिये गए। 1854 में लिंकन ने रिपब्लिकन दल के जन्मदाता के रूप में प्रवेश किया। यह दल दास प्रथा विरोधी था।

अगस्त, 1885 में अपने मित्र जोशुआ स्पीड को लिखे पत्र में लिंकन कहते हैं- 'मैं दास प्रथा पसंद नहीं करता हूँ। मैं उन्हें पकड़े जाते, कोड़ों की मार और असहनीय मजदूरी पर वापस ढकेले जाते देख नफरत से भर उठता हूँ।' दासता के अंत की कीमत वे गणराज्य के बिखराव के रूप में नहीं चुकाना चाहते थे। इसलिए वे इसके लिए जॉन ब्राउन की तरह क्रांतिकारी तरीके से खुद को फाँसी चढ़वा देने के भी पक्षधर नहीं थे। 1858 में जब किसी ने लिंकन से राष्ट्रपति पद के लिए नामजद किए जाने की चर्चा की तो उन्होंने कहा- 'मैं अपने-आप को राष्ट्रपति पद के योग्य नहीं समझता।' पर राष्ट्रपति के रूप में अपना नाम प्रस्तुत किए जाने पर वे बिना किसी मानसिक कमजोरी के चुनाव जीतने की तैयारी में लग गए। चुनाव में उनके मुकाबले ज़्यादा योग्य दो व्यक्ति खड़े थे, लेकिन अपने सरल भाषणों से लोगों को अभिभूत करने वाले लिंकन आखिरकार 1860 के राष्ट्रपति पद का चुनाव जीत गए।

31 जनवरी, 1865 को प्रतिनिधि सभा ने सीनेट द्वारा पहले ही पास किया हुआ दास-प्रथा रोकने के लिए वैधानिक संशोधन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। 4 मार्च, 1865 को लिंकन ने दूसरी बार संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया। इस बार उनके अंगरक्षकों में नीग्रो सेना की टुकड़ी भी थी। 14 अप्रैल, 1865 को नाटक देखते समय एक रंगकर्मी ने नस्लीय घृणा से वशीभूत होकर लिंकन की गोली मारकर हत्या कर दी।

लेनिन *(Lanin)*

व्लादिमीर इलीइच लेनिन रूस के एक विद्यालय निरीक्षक पिता की संतान थे। लेनिन का एक अन्य नाम "उल्यानोव" भी है। महज 18 वर्ष की आयु में उनके पिता का निधन हो गया। लेनिन के सभी भाई-बहन क्रांतिकारी विचारों के थे। इनके बड़े भाई एलेक्जेंडर को देश के शासक जार की हत्या का षड्यंत्र रचने में शरीक होने के आरोप में फाँसी दे दी गई थी। सुश्री क्रुप्सकाया से 1893 में सेंट पीटर्सबर्ग में मार्क्सवादियों के समूह में परिचय होने के बाद वह इनकी सहयोगी रहीं और साइबेरिया में निर्वासन के दौरान दोनों ने विवाह कर लिया। इसी निर्वासन के दौरान लिखी तीन पुस्तकों में महत्त्वपूर्ण है- "रूस में पूंजीवाद का विकास" जिसमें मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर रूस की आर्थिक उन्नति के विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है और इसी समय उन्होंने गन में रूस के निर्धन श्रमिकों या सर्वहारा वर्ग का एक दल स्थापित करने की योजना बना ली थी।

लेनिन ने देश से बाहर जाकर "इस्क्रा" नामक समाचारपत्र का संपादन आरंभ किया। 1905-07 की प्रथम क्रांति के दौरान लेनिन ने रूस में आकर उसमें भाग लिया और विफलता के बाद वे पुनः बाहर चले गए। अपनी पुस्तक "साम्राज्यवाद" (1916) में साम्राज्यवाद का विश्लेषण करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से बतलाया कि यह पूंजीवाद के विकास की चरम और आखिरी मंजिल है।

दृष्टि The Vision | सामान्य अध्ययन (General Studies) | नैतिकता, सत्यनिष्ठा एवं अभिरुचि
641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91) 8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright Akhil Murti

उन्होंने उन परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला जो साम्राज्यवाद के विनाश को अनिवार्य बना देती है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि साम्राज्यवाद के युग में पूंजीवाद के आर्थिक एवं राजनीतिक विकास की गति सब देशों में एक सी नहीं होती। फरवरी-मार्च, 1917 में रूस में क्रांति के आरंभ होने पर वे रूस लौट आये। उन्होंने क्रांति की व्यापक तैयारियों का संचालन किया और श्रमिकों तथा सैनिकों की बहुसंख्यक सभाओं में भाषण देकर उनकी राजनीतिक चेतना बढ़ाने और संतुष्ट करने का प्रयत्न किया।

सन् 1917 में उन्होंने "दि स्टेट एंड रिवील्यूशन" (राज्य तथा क्रांति) नामक पुस्तक लिखी और गुप्त रूप से दल के संघटन और क्रांति की तैयारियों के निदेशन का कार्य जारी रखा। 7 नवंबर, 1917 को लेनिन की अध्यक्षता में सोवियत सरकार की स्थापना की गई। प्रारंभ से ही सोवियत शासन ने शांति स्थापना पर बल देना शुरू किया। जर्मनी के साथ संधि कर ली गई और जमींदारों से भूमि छीनकर सारी भूसंपत्ति पर राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित कर दिया गया, व्यवसायों तथा कारखानों पर श्रमिकों का नियंत्रण हो गया और बैंकों तथा परिवहन साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। श्रमिकों तथा किसानों को पूंजीपतियों और जमींदारों से छुटकारा मिला और समस्त देश के निवासियों में पूर्ण समता स्थापित कर दी गई। नवस्थापित सोवियत प्रजातंत्र की रक्षा के लिए लाल सेना का निर्माण किया गया। लेनिन ने अब मजदूरों और किसानों के संसार के इस प्रथम राज्य के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लिया। उन्होंने "दि इमीडिएट टास्क्स ऑफ दि सोवियत गवर्नमेंट" तथा "दि प्रोलेटेरियन रिवोल्यूशन एंड दि रेनीगेड कौत्स्की" नामक पुस्तकें लिखी (1918)।

बाहरी देशों के सैनिक हस्तक्षेपों तथा गृहकलह के वर्षों में लेनिन ने विदेशी आक्रमणकारियों तथा प्रतिक्रांतिकारियों से दृढ़तापूर्वक लोहा लेने के लिए सोवियत जनता का मार्ग दर्शन किया। इस व्यापक अशांति और गृहयुद्ध के समय भी लेनिन ने युद्ध काल से हुई देश की बर्बादी को दूर कर स्थिति सुधारने, विद्युतीकरण का विकास करने, परिवहन के साधनों के विस्तार और छोटी-छोटी जोतों को मिलाकर सहयोग समितियों के आधार पर बड़े फार्म स्थापित करने की योजनाएँ आरंभ कर दीं। उन्होंने शासन-तंत्र का आकार घटाने, उसमें सुधार करने तथा खर्च में कमी करने पर बल दिया। उन्होंने शिक्षित और मनीषी वर्ग से किसानों, मजदूरों के साथ सहयोग करते हुए नए समाज के निर्माण कार्य में सक्रिय भाग लेने का आग्रह किया। लेनिन ने बतलाया कि मजदूरों का अधिनायकतंत्र वास्तव में अधिकांश जनता के लिए सच्चा लोकतंत्र है। अपनी महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक कृति "साम्राज्यवाद: पूंजीवाद का उच्चतम पड़ाव" में लेनिन ने दिखाया कि पूंजीवाद अपने अंतिम पड़ाव, साम्राज्यवाद या मरणासन्न पूंजीवाद पर पहुँच गया है। लेनिन मानते थे कि तब तक साम्राज्यवाद दुनिया के सभी भागों पर अपना वर्चस्व जमाने के लिये पूरी कोशिश करेगा, खूनी विनाशकारी जंग भी छेड़ेगा, और मानवजाति को एक संकट से दूसरे संकट में धकेलता जायेगा, जब तक कि मजदूर वर्ग इस शोषण की व्यवस्था का तख्तापलट करने और समाजवाद लाने के संघर्ष में शोषित व उत्पीड़ित जनसमुदाय को अगुवाई नहीं देगा।

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने मानव समाज के विकास के वैज्ञानिक विश्लेषण के जरिये यह स्थापित किया था कि पूंजीवाद की कब्र खोदना और इंसान द्वारा इंसान के शोषण से मुक्त समाजवाद और साम्यवाद का नया युग लाना मजदूर वर्ग का लक्ष्य है। लेनिन ने अपने समय की हालतों में, जब पूंजीवाद साम्राज्यवाद के पड़ाव पर पहुँच गया था, मार्क्सवाद के सिद्धांत की हिफाज़त की, उसे लागू किया और विकसित किया।

लेनिन ने दिखाया कि जब पूंजीवाद साम्राज्यवाद के पड़ाव पर पहुँच जाता है, तो श्रमजीवी क्रांति के लिए सभी हालतें परिपक्व हो जाती हैं। उन्होंने असमान आर्थिक और राजनीतिक विकास के नियम का आविष्कार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अंतर-साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों, शोषकों और शोषितों के बीच अंतर्विरोधों, दूसरों पर हावी साम्राज्यवादी राज्यों और दबे कुचले राष्ट्रों तथा लोगों के बीच अंतर्विरोधों आदि की वजह से यह मुमकिन हो जाता है कि किसी एक देश में क्रांति शुरू हो सकती है। लेनिन ने यह पूर्वाभास दिया कि क्रांति उस देश में शुरू होगी जहाँ साम्राज्यवाद की वैश्विक कड़ी सबसे कमजोर है, हालाँकि वह देश पूंजीवादी तौर पर सबसे अगुवा न भी हो सकता है, क्योंकि साम्राज्यवाद गुलामी और लूट की वैश्विक व्यवस्था है। लेनिन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि साम्राज्यवाद श्रमजीवी क्रांति की पूर्वसंध्या है।

1917 में रूस में अक्टूबर क्रांति की जीत के साथ दुनिया के इतिहास में एक नया युग शुरू हुआ। पहली बार, शोषक वर्ग की राजनीतिक सत्ता को मिटाया गया और उसकी जगह पर मजदूर वर्ग की सत्ता स्थापित हुई। दुनियाभर में कई पीढ़ियों के कम्युनिस्ट और क्रांतिकारी उस समय से, शोषण के खिलाफ अपने संघर्ष में लेनिनवाद के सिद्धांत और अभ्यास से प्रेरित और मार्गदर्शित हुए हैं।

लेनिन ने मार्क्स की उस अभिधारणा का विस्तार किया कि श्रमजीवी क्रांति से समाजवाद स्थापित करने के लिए श्रमजीवी अधिनायकत्व के राज्य की स्थापना करना आवश्यक है, जो कि समाज को समाजवाद और साम्यवाद के रास्ते पर अगुवाई देने के लिए मजदूर वर्ग का मुख्य साधन है। रूस में 1917 में महान अक्टूबर समाजवादी क्रांति की जीत और सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण से यह अभिधारणा सही साबित हुई।

लेनिन ने उन सभी के खिलाफ कठोर विचारधारात्मक संघर्ष किया, जो पार्टी को समान विचार वाले सदस्यों की ढुलमुल संस्था के रूप में बनाना चाहते थे। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि पूंजीपति वर्ग को हराने के लिए मजदूर वर्ग के अंदर जिस अटूट एकता की जरूरत है, उसे हासिल करने के लिए यह काफी नहीं है कि पार्टी के सदस्य पार्टी के कार्यक्रम से सहमत हों और नियमित तौर पर योगदान दें; पार्टी के सदस्यों को पार्टी के किसी संगठन के अनुशासन तले काम भी करना होगा। उन्होंने लोकतांत्रिक

Copyright Akhil Murti

केन्द्रीयवाद (सामूहिक फैसले लेना और व्यक्तिगत दायित्व निभाना) को कम्युनिस्ट पार्टी के संगठनात्मक सिद्धांत के रूप में बतौर स्थापित किया, जिसके जरिये अधिक से अधिक व्यक्तिगत पहल उभरकर आती है और साथ ही साथ, पार्टी की एकाश्म एकता हमेशा बनी रहती है तथा मजबूत होती रहती है।

लेनिन ने अपनी कृति "राज्य और क्रांति" में मार्क्सवाद और एंगेल्स की उस मूल अभिधारणा की हिफाजत की कि श्रमजीवी वर्ग के लिए यह जरूरी है कि पूंजीवादी राज्य तंत्र को चकनाचूर कर दिया जाये और उसकी जगह पर एक बिल्कुल नया राज्यतंत्र स्थापित किया जाये जो मजदूर वर्ग की सेवा में काम करेगा। अपनी कृति "श्रमजीवी क्रांति और विश्वासघातक काउत्स्की" में लेनिन ने पूंजीवादी लोकतंत्र के बारे में मजदूर वर्ग आंदोलन में भ्रम फैलाने की कोशिशों का पर्दाफाश किया और श्रमजीवी अधिनायकत्व के तहत श्रमजीवी लोकतंत्र के साथ पूंजीवादी लोकतंत्र की बड़ी तीक्ष्णता से तुलना की।

लेनिन ने बार-बार स्वतंत्रता को मजदूरवर्ग के हितों के साथ जोड़कर देखा और वंचितों के सामाजिक अस्तित्व की रक्षा के संदर्भ में व्याख्यायित करते हुए स्वतंत्रता को भाववाद से मुक्त करते हुए भौतिकवाद से जोड़ा। लेनिन ने लिखा है कि हमें कार्ल मार्क्स की महान शिक्षा को इस प्रसंग में ध्यान में रखना चाहिए। मार्क्स ने लिखा है- "अगर आपको एक होना ही है तो आंदोलन के व्यावहारिक उद्देश्य को संतुष्ट करने के लिए समझौते कीजिए। लेकिन सिद्धांतों के सवाल पर मोल-तोल मत कीजिए। सैद्धांतिक 'छूट' या 'रियायतें' कभी मत दीजिए।"

लेनिन ने एंगेल्स के जरिए त्रिस्तरीय संघर्षों की ओर ध्यान खींचा। एंगेल्स ने 1874 में सामाजिक लोकतंत्रवादी आंदोलन के सिलसिले में कहा कि हमारे बीच अभी दो संघर्ष चल रहे हैं- सामाजिक और आर्थिक। लेकिन एंगेल्स सामाजिक लोकतंत्र के इन दो महान संघर्षों के बजाय तीन संघर्षों को मान्यता देते हैं। यह तीसरा संघर्ष है सैद्धांतिक संघर्ष जो अन्य दो संघर्षों के समकक्ष है, कहीं से भी उनसे कम महत्वपूर्ण नहीं है।" 21 जनवरी, 1924 को लेनिन की मृत्यु हो गई।

मओ त्से-तुंग *(Mao Tse-Tung)*

माओ त्से-तुंग या माओ जेदोंग का जन्म 26 दिसम्बर, 1893 को चीन के हूनान प्रान्त के शाओशासन कस्बे में एक किसान परिवार में हुआ था। माओ ने महज 13 साल की उम्र में पढ़ाई छोड़ कर खेत पर काम करना शुरु किया। बाद में खेती छोड़कर वे हूनान प्रान्त की राजधानी चांगशा में माध्यमिक विद्यालय में पढ़ने गए। जिन्हाई क्रांति के समय माओ ने हूनान के स्थानीय रेजिमन्ट में भर्ती होकर क्रान्तिकारियों की तरफ से लड़ाई में भाग लिया। चिंग राजवंश के सत्ताच्युत होने पर वे सेना छोड़ कर पुन: विद्यालय गए। माओ ने पीकिंग विश्वविद्यालय में सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष पद पर रहकर काम किया और अंशकालिक छात्र के रूप में पंजीकृत होकर कुछ व्याखानों और विद्वानों के सेमिनारों में भी भाग लेने लगे। उनका झुकाव साम्यवादी सिद्धांतों की तरफ हुआ और वे साम्यवादी दल में शामिल हो गये। उनके नेतृत्व में चीन की क्रान्ति सफल हुई। उन्होंने जनवादी गणतन्त्र चीन की स्थापना (सन् 1949) से मृत्यु पर्यन्त (सन् 1976) तक चीन का नेतृत्व किया। उन्होंने मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा को सैनिक रणनीति में जोड़कर एक विशेष सिद्धांत को जन्म दिया जिसे 'माओवाद' के नाम से प्रसिद्धी मिली। वर्तमान में कई लोग माओ को एक विवादास्पद व्यक्ति मानते हैं परन्तु चीन में वे राजकीय रूप से महान् क्रान्तिकारी, राजनीतिक रणनीतिकार, सैनिक पुरोधा एवं देशरक्षक माने जाते हैं। वे कवि, दार्शनिक, दूरदर्शी महान् प्रशासक के रूप में गिने जाते हैं। हालाँकि माओ के 'ग्रेट लीप फॉरवर्ड' (Great Leap Forward) और 'सांस्कृतिक क्रांति' नामक सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यक्रमों के कारण गंभीर अकाल पड़ने और चीनी समाज, अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति को ठेस पहुँचाने की भी बातें की जाती हैं।

लेनिन के बाद वह ऐसे दूसरे क्रांतिकारी हैं, जिन्होंने एक पिछड़े देश (चीन) में सफल क्रांति लाने में सफलता हासिल की। लेनिन की तरह माओ साम्यवाद के केवल सिद्धांतकार ही नहीं थे अपितु उसे व्यावहारिक रूप देने वाले भी थे। माओ ने इस काम में कृषक वर्ग की मदद ली। ऐसा करके माओ ने परंपरागत साम्यवाद को अपने अनुरूप विकसित किया। परंपरागत साम्यवाद में कृषकों की खास भूमिका को स्वीकार नहीं किया जाता था लेकिन माओ ने क्रांति में कृषक वर्ग का सहयोग लेकर साम्यवाद में नया अध्याय जोड़ दिया।

माओ ने अपनी पुस्तक 'एनैलिसिस आफ द क्लासेस इन द चाइनिज़ सोसाइटी' में कृषकों की कई प्रकार की श्रेणियों का वर्णन किया है। वह किसानों को छोटे, सीमांत, मध्यवर्गीय और बड़ी जमीनों वाले किसानों के रूप में बाँट कर देखते हैं। उन्होंने इन चारों में से प्रत्येक में संभावित क्रांतिकारिता के तत्वों की पहचान की। उन्होंने कृषकों और भू-स्वामियों के बीच विरोधाभास को समझा और उसे रेखांकित किया। उनका तर्क था कि चीन की परिस्थितियाँ भिन्न हैं इसलिए यहाँ मजदूर के बजाए कृषक क्रांति के लिए अधिक उपयुक्त होंगे। लेकिन माओ ने गैर-कृषक वर्ग को पूरी तरह नकारा नहीं बल्कि क्रांति में उनके सहयोग की संभावनाएँ तलाश कीं। सन् 1928 के बाद हुये कुछ विद्रोहों में माओ को पराजय मिली और उन्हें विवश होकर पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी। यहाँ से माओ के दल को युद्ध के दाँव-पेंच की नई रणनीति 'गुरिल्ला या छापामार' की नीति को अपनाना पड़ा। यह नीति पर्याप्त सफल रही और चीन के कई क्षेत्रों में माओ के साम्यवादी दल का कब्जा हो गया। उनका यह तरीका साम्यवादियों के अंतर्राष्ट्रीय संगठन 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' की निर्धारित नीतियों के अनुरूप नहीं था जो शहरी केंद्रों से संचालन का प्रवक्ता था। माओ ने इसके प्रत्युत्तर

Copyright - Akhil Murti

में कहा कि शहरी केंद्रित क्रांति चीन में कभी सफल नहीं हो सकती क्योंकि चीन में मजदूर वर्ग बहुत कम संख्या में है। माओ के विरोधियों की सेना जिसे कोमिनटॉग भी कहा जाता है, उसने इन साम्यवादी क्रांतिकारियों को उत्तर-पश्चिम पहाड़ियों की तरफ धकेलना शुरू कर दिया। फलस्वरूप माओ को अपनी रणनीति में बदलाव करना पड़ा और उसने अपने साथियों के साथ दूर-दराज के क्षेत्र की तरफ रुख किया। माओ के इस पलायन को 'लांग मार्च' की संज्ञा दी गई है। माओ के इस कदम ने उन्हें साम्यवादी दल का निर्विवाद नेता बना दिया। इससे उन्हें अपने दल को मजबूत बनाने में बड़ी मदद मिली। इसी दौरान माओ ने मार्क्सवादी दर्शन का व्यापक अध्ययन किया और दो बहुत गंभीर लेख 'ऑन प्रैक्टिस' और 'ऑन कंट्राडिक्शन' लिखे। सन् 1940 के दशक में माओ ने 'न्यू डेमोक्रेसी' शीर्षक के अंतर्गत भावी चीन की रूपरेखा खींची। उन्होंने कृषकों के जनसंघटन के प्रयास के तहत एक नयी रणनीति बनाई जिसे 'जनपंक्ति' का नाम दिया गया। इसके अंतर्गत उन्होंने जापान के आक्रमण का सामना करने के लिए चीनी जनता में राष्ट्रवाद की भावना को कूट-कूट कर भर दिया और गुरिल्ला युद्ध को और अधिक परिष्कृत किया। इसी समय राष्ट्र रक्षा के लिए उन्होंने सत्ताधारी कोमिनटॉग से मेल-मिलाप कर लिया। सन् 1949 में दोनों के मध्य सहयोग समाप्त हो गया और माओ चीन राज्य के अध्यक्ष बन गये।

माओ ने चीन के समाज का जो खाका पेश किया वह मार्क्स की रचनाओं में प्रतिपादित रूपरेखा से अलग था और उससे भी अलग था जिसे लेनिन ने सोवियत संघ में बनाने का प्रयास किया था। सन् 1950 के दशक के आरंभ में माओ ने 'लेट ए हंडरेड फ्लावर्ज ब्लूम' का आह्वान किया जिसके फलस्वरूप चीन में साम्यवादी दल में विभिन्न दृष्टिकोणों को अपनी बात खुल कर कहने की स्वतंत्रता मिली। बाद में उन्होंने कृषि के सामूहिकीकरण का प्रयास किया और उसके साथ 'ग्रेट लीप फॉरवर्ड' के माध्यम से चीन में साम्यवाद की नींव गहरी करने की कोशिश की। हालाँकि माओ को इस काम में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। इसका परिणाम यह भी निकला कि उनके खिलाफ असंतोष भी उभरने लगा। माओ ने इस विरोध का वैचारिक आधार पर मुकाबला किया और सन् 1966 में सांस्कृतिक क्रांति का आह्वान किया। इसका उद्देश्य साम्यवादी दल के सक्रिय सदस्यों में क्रांतिकारी जोश को तीव्र करना था। उनका यह विचार उनकी मृत्यु यानी 9 सितम्बर, 1976 तक बना रहा।

इसमें संदेह नहीं कि माओ के विचारों पर मार्क्स और लेनिन का जबरदस्त प्रभाव था। लेकिन माओ ने उनकी बातों को नए परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त किया। कृषक क्रांतिकारिता की शक्ति पर आश्रित माओ ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद में संशोधन किया। यह ध्यान में रखा जाना चाहिये कि मार्क्स कृषक वर्ग को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि कृषक वर्ग रूढ़िवादी होता है और प्रतिक्रियावादी भी। ये वर्ग क्रांति में योगदान नहीं देता। माओ का मौलिक योगदान इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने चीन में सफल क्रांति का श्रेय किसानों को दिया। साथ ही, उनके क्रांति के तरीकों को अफ्रीकी एशियाई समाजों ने मिसाल के तौर पर देखा। सांस्कृतिक क्रांति के दौर में माओ ने सोवियत संघ के उत्तर-क्रांतिकाल से शिक्षा लेते हुए इस ओर ध्यान दिलाया था तथा चेतावनी भी दी कि समाजवादी समाज के अंतराल में ऐसे समाज से लाभ लेने के लिए नया पूंजीवादी वर्ग भी खड़ा हो सकता है। माओ ने इस प्रकार सोवियत संघ की विसंगति को समझ कर साम्यवादी दल में उच्च सोपानकों को एक तरफ रखने के लिए इस प्रकार का तर्क रखा था। माओ निरंतर क्रांति में विश्वास रखता था। इसी विश्वास के कारण उसने सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात किया। माओ और उसके साथियों का मानना था कि उनके बाद रूस की तरह चीन भी पूंजीपतियों से गठबंधन बनाकर उनके महत्त्व को स्वीकार कर सकता है। ऐसा होने से रोकने के लिए क्रांति आवश्यक है। इसके अलावा ऐसी शक्तियाँ बार-बार सिर उठाती हैं जो दक्षिणपंथी होती हैं। इसलिए माओ ने कहा है कि सांस्कृतिक क्रांति शाश्वत चेतनता और जागरुकता का प्रतीक है। वह चीनी समाज में उत्पन्न होने वाली पूंजीवादी मनोवृत्ति के दमन का और साम्यवादी क्रांति को विभिन्न मलिनताओं और दोषों से मुक्त रखने वाला उग्र और क्रांतिकारी संघर्ष है। इसी विचार से प्रेरित होकर उसने देश में सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात किया। चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई ने इसे महान सर्वहारा वर्गीय सांस्कृतिक क्रांति कहकर पुकारा।

मार्क्स ने अपनी रचनाओं में विरोधाभासों और अंतर्विरोधों को पर्यायवाची माना था। लेनिन ने इन दोनों में भेद करने का प्रयास किया था। माओ ने इस विवाद को और समृद्ध बना दिया। सन् 1937 में अपने सुप्रसिद्ध निबंध 'ऑन कंट्राडिक्शन' में माओ ने विरोधाभासों को अंर्तविरोधी और गैर-अंतर्विरोधी रूप में देखा। उनके अनुसार अंतर्विरोधी विरोधाभास वह होते हैं जिन्हें शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाया जा सकता है। सन् 1957 में 'ऑन करेक्ट हैंडलिंग ऑफ कंट्राडिक्शंस' में माओ ने इस विचार को और विस्तार दिया। उन्होंने तर्क दिया कि कृषकों तथा मजदूरों के बीच विरोधाभास गैर-अंतर्विरोधी होते हैं। उन्होंने यह तर्क भी दिया कि किसी एक समय में एक विरोधाभास मुख्य विरोधाभास हो सकता है जबकि दूसरे समय में लघु विरोधाभास भी हो सकता है। एक मुख्य विरोधाभास में एक मौलिक पहलू तथा अन्य छोटे-छोटे पहलू भी हो सकते हैं। जैसे साम्राज्यवाद के युग में साम्राज्यवादी गुट में एक ओर तथा समाजवादी व औपनिवेशिक देशों में दूसरी ओर विरोधाभास मुख्य रूप में हो सकता है। सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच विरोधाभास मुख्य विरोधाभास का मुख्य पहलू है। माओ ने आगे यह भी कहा कि कौन सा विरोधाभास गैर अंतर्विरोधात्मक है तथा मुख्य रूप का है या लघुरूप का है; और कौन-सा विरोधाभास गैर-अंतर्विरोधात्मक है तथा मुख्य रूप का है या लघुरूप का है; और कौन-सा विरोधाभास गैर-अंतर्विरोधात्मक या किस पहलू का, मुख्य या लघु कहा जाए ये ऐतिहासिक, सामरिक और सापेक्ष परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

Copyright Akhil Murti

माओ ने विरोधाभास के विस्तृत विश्लेषण के आधार पर अपने ज्ञान के सिद्धांत को विकसित किया। उन्होंने अपने निबंध 'ऑन प्रैक्टिस' में कहा कि वास्तविक संसार का हमारा समस्त ज्ञान हमें ठोस अन्वेषण तथा आनुभाविक विश्लेषण से प्राप्त होता है। उन्होंने केवल किताबों से मिलने वाले ज्ञान तथा सहजबोध सिद्धांतवाद का विरोध किया। उन्होंने कहा कि अगर कोई चीन को समझना चाहता है तो उसे यहाँ के वर्गीय ढाँचे, भू-स्वामित्व के प्रतिरूप और चीन की अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवाद के प्रभाव को समझना होगा। बिना निरंतर आनुभाविक वास्तविकता के सिद्धांत मात्र एक मतांधता बन कर रह जाता है। आनुभाविक वास्तविकता को समझने के लिए माओ ने दो चरणों- चिरस्थाई चरण और प्रत्यात्मक चरण की बात कही। चिरस्थाई चरण पर हमें वास्तविकता का संकेत हमारी इंद्रियों से मिलता है। यह इंद्रिय आधारित ज्ञान प्रत्यात्मक भोगित हो जाता है। जैसे जब कोई ग्रामीण चीन की आनुभाविक वास्तविकता को देखता है, तो उसका ऐसा ज्ञान चिरस्थाई चरण का ज्ञान है। परंतु इस प्रकार की वास्तविकता को देखने के बाद हम चीन के समाज व उसके विभिन्न वर्गों जैसे भूमिहीन, सीमांत, छोटे, मध्य और बड़े किसान को समझने का प्रयास करते हैं। यह प्रत्यात्मक चरण कहलाता है।

माओ जानते थे कि चीन में कृषक इतने सशक्त नहीं हैं कि वे साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद के विरुद्ध क्रांतिकारी संघर्ष जीत सकें। इसलिए उनका मत था कि ऐसी स्थिति में चीनी समाज के अन्य वर्गों की सहायता लेना बहुत आवश्यक है। माओ ने इस बात को ध्यान में रखते हुये संयुक्त मोर्चे की अवधारणा पर बल दिया। यह मोर्चा उन सभी विभिन्न सहयोगियों का मोर्चा समझा जाने लगा जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध थे। माओ का मानना था कि इस मोर्चे का स्वरूप ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करेगा और इसका लक्ष्य मौलिक विरोधाभास का समाधान करना होगा।

संयुक्त मोर्चा रणनीति के तहत माओ ने 1940 में चीन के गणराज्य के लिए एक नवीन प्रकार के लोकतंत्र का आह्वान किया और 1945 में उन्होंने ऐसी व्यवस्था का सुझाव दिया जिसे 'नवीन लोकतंत्र' कहा गया। माओ ने शास्त्रीय मार्क्सवाद की उस अवधारणा जो सर्वहारा के अधिनायकवाद की चर्चा करती थी, से हटकर लोगों के लोकतान्त्रिक अधिनायकवाद की बात की थी। वास्तव में माओ ने मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद को मिलाने का प्रयास किया था।

फिदेल ऐलेजैंड्रो कास्त्रो रूज़ *(Fidel Alejandro Castro Ruz)* या फिदेल कास्त्रो

क्यूबा के राजनीतिज्ञ और क्यूबा की क्रांति के प्राथमिक नेताओं में से एक फिदेल कास्त्रो का जन्म 13 अगस्त, 1926 को एक अमीर परिवार में हुआ था। हवाना विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हुए उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत की और जल्द ही एक मान्यता प्राप्त व्यक्ति बन गए। साम्यवादी झुकाव वाले कास्त्रो ने एक क्रांति के जरिये क्यूबा में तत्कालीन अमेरिकी समर्थित फुल्गेंकियो बतिस्ता की तानाशाह सरकार को उखाड़ फेंका और सत्ता में आ गये।

लेकिन यह काम इतना आसान नहीं था। क्यूबा में तख्तापलट और क्रांति लाने के उद्देश्य से कास्त्रो ने कानून की प्रैक्टिस छोड़ दी और अपने भाई राउल और मारियो चांस डे आर्म्स समेत समर्थकों को लेकर एक भूमिगत संगठन का गठन किया। शुरुआती झड़पों के बाद और अंतिम रूप से 8 जनवरी, 1959 को कास्त्रो की थलसेना हवाना में विजयी भाव के साथ दाखिल हुई। इसी के साथ बतिस्ता सरकार का पतन हो गया। नई सरकार ने अवैध रूप से अर्जित संपत्ति जब्त करने सहित अन्य कल्याणकारी कार्य व्यापक पैमाने पर शुरू कर दिये। 17 मई, 1959 को कास्त्रो ने देश के पहले कृषि सुधार कानून पर हस्ताक्षर किये, जिससे मालिकाना हक 993 एकड़ तक सीमित किया गया और विदेशी भूमि को स्वामित्व निषेध किया गया। 1 मई, 1961 को कास्त्रो ने क्यूबा को समाजवादी राज्य घोषित किया और सरकारी तौर पर बहुदलीय चुनाव समाप्त कर दिया।

1962 में क्यूबा और अमेरिका के बीच तनाव बढ़ गया, जिससे अमेरिका और सोवियत संघ परमाणु संघर्ष के करीब आ गए। इसे मिसाइल संकट का नाम दिया गया। इसके बाद क्यूबा की सोवियत संघ पर निर्भरता का स्तर बढ़ गया। कास्त्रो ने सरकार, मीडिया और शिक्षा प्रणाली सभी स्तर पर कम्युनिस्ट पार्टी के नियंत्रण को और मजबूत करना शुरू कर दिया। सोवियत संघ के पतन के साथ ही सोवियत गणतंत्र और क्यूबा के संबंधों का महान अध्याय भी समाप्त हो गया। प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच भी क्यूबा ने फिदेल कास्त्रो के नेतृत्व पर हमेशा अगाध आस्था जाहिर की है। उनकी आलोचना में कहा जाता है कि कास्त्रो तानाशाह हैं, लेकिन उनकी अपार लोकप्रियता इस आरोप को खारिज करती है।

अर्नेस्टो चे ग्वेयरा *(Ernesto Che Guevera)*

क्यूबा में क्रान्ति करने वाले फिदेल कास्त्रो के अनन्य सहयोगी अर्नेस्टो चे ग्वेयरा एक करिश्माई व्यक्तित्व, एक किंवदन्ती, एक जुनूनी क्रान्तिकारी थे। अपने अदम्य साहस, निरन्तर संघर्षशीलता, अटूट इरादों व पूंजीवाद विरोधी मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा के कारण ही चे ग्वेयरा आज पूरी दुनिया में युवाओं के महानायक हैं। यह चे का जुनून ही था जिसने 1959 में क्यूबा में क्रान्ति के बाद भी उन्हें चैन से बैठने नहीं दिया और क्यूबा की राजसत्ता को त्यागकर 1965 में वे पूरी दुनिया की यात्रा पर निकल पड़े व अफ्रीका और बोलिविया में क्रान्ति की कोशिश की।

चे ग्वेयरा का जन्म 14 जून, 1928 को अर्जेन्टीना के रोसारियो शहर में हुआ था। स्पेनिश-आयरिश वंश में जन्मे चे ग्वेयरा का पालन-पोषण सामंती परिवेश में हुआ। चिली के सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कवि पाब्लो नेरूदा से बेहद प्रभावित चे ने 19 वर्ष

Copyright – Akhil Murti

की आयु में ब्यूनस आयर्स विश्वविद्यालय के मेडिकल कॉलेज में दाखिला लिया परन्तु मेडिकल शिक्षा के अन्तिम वर्ष में वे कुष्ठ रोगियों के इलाज के लिए काम करने वाले एक दोस्त की मोटर साइकिल लेकर लैटिन अमेरिका की यात्रा पर निकल पड़े। यह यात्रा उनके जीवन के बदलाव की यात्रा सिद्ध हुई। यात्रा के दौरान जिस गरीबी व भुखमरी से उनका साक्षात्कार हुआ उसने उन्हें बदल कर रख दिया।

मेडिकल शिक्षा के बाद ग्वाटेमाला में काम करते हुए उन्होंने अरबेंज के समाजवादी शासन के खिलाफ सीआईए की साजिशों को देखा जिसने उनके दिल में अमेरिकी साम्राज्यवाद के लिए नफरत भर डाली। ग्वाटेमाला में उनकी मुलाकात वामपंथी अर्थशास्त्री हिल्डा गादिया अकोस्टा से हुई जो अमेरिकन पॉपुलर रिवोल्यूशनरी एलायंस की सदस्य थीं। हिल्डा ने उनकी मुलाकात जनवादी ढंग से निर्वाचित अरबेन्ज सरकार के कुछ बड़े नेताओं से कराई। वहाँ जकोबो अरबेन्ज का शासन सीआईए के द्वारा उखाड़ फेंकने के बाद उन्हें अर्जेन्टीना के दूतावास में शरण लेनी पड़ी और वहाँ से उन्होंने मेक्सिको की तरफ रूख किया। मेक्सिको में ही उनकी मुलाकात कास्त्रो बन्धुओं से हुई व 1956 में क्यूबा के तानाशाह बतिस्ता के खिलाफ़ अभियान में चे उनके सहयोगी हो गए।

25 नवम्बर, 1956 को चे ग्वेयरा एक चिकित्सक की हैसियत से कास्त्रो भाइयों के साथ पूर्वी क्यूबा में उतरे जहाँ उतरने के साथ ही बतिस्ता की फौजों ने इस गुरिल्ला सेना पर हमला बोल दिया। इस हमले में उनके 82 साथी लड़ाई में शहीद हुए या उन्हें गिरफ्तार करके मार डाला गया। यही वह समय था जब चे ग्वेयरा ने मेडिकल बॉक्स छोड़कर हथियार उठाए, बाद में उन्होंने गुरिल्ला कमांडर के तौर पर सीयेरा माऐस्त्रा की पहाड़ियों में रहकर गुरिल्ला सेना का नेतृत्व किया। इसी गुरिल्ला फौज ने 31 दिसम्बर, 1958 को क्यूबा के बतिस्ता शासन को तोड़ दिया। जनवरी, 1959 में हवाना में दाखिल होने वाले व हवाना पर नियन्त्रण बनाने वाले चे ग्वेयरा पहले गुरिल्ला कमांडर थे। इस क्रान्ति के थोड़े समय के बाद ही चे अलेदिया मार्क के साथ शादी करके हनीमून पर चले गए।

चे क्यूबा में फिदेल के सबसे विश्वसनीय व फिदेल के बाद सबसे ताकतवर नेता थे। सेना के कमांडर, राष्ट्रीय बैंक के अध्यक्ष व उद्योग मंत्रालय जैसी अहम् जिम्मेदारियाँ उनके पास थीं, फिर भी दुनिया बदलने की उनकी योजनाएँ उन्हें चैन से सोने नहीं देती थीं। क्यूबा के प्रति अमेरिकी नीतियों की आलोचना करते हुए उन्होंने सोवियत संघ से मदद लेने के लिए अनेक कम्युनिस्ट देशों का दौरा किया। उन्होंने देश में तेज औद्योगीकरण का कार्यक्रम लागू किया। 1964 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा को सम्बोधित करने के बाद वे अपनी क्रान्ति के मिशन पर निकल पड़े। 1965 में उन्होंने अफ्रीका के देश कांगो में अपनी योजनाओं को अंजाम देने की ठानी।

कांगो से लौटकर फिर उन्होंने क्यूबा में कुछ सैनिक अधिकारियों को लेकर एक टुकड़ी बनायी व अपना अगला मिशन बोलिविया निर्धारित किया। बोलिविया अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। चे ग्वेयरा का इरादा अमेरिकी साम्राज्यवाद की रणनीति को लैटिन अमेरिका में रोकने के लिए बोलिविया को वहाँ के कम्युनिस्टों के साथ मिलकर गुरिल्ला कार्रवाईयों के लिए एक प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में विकसित करने की थी। संभवतः 1966 के अन्त या 1967 के आरम्भिक दिनों में उन्होंने बोलिविया में अपने मिशन की शुरुआत की, लेकिन बोलिवियाई सेना ने चे ग्वेयरा को उनकी गुरिल्ला टुकड़ी के साथ 7 अक्टूबर को घेर लिया जहाँ से उन्हें बांधकर लाया गया और 9 अक्टूबर, 1967 को उनकी हत्या कर दी गई।

नेल्सन मंडेला *(Nelson Mandela)*

नेल्सन मंडेला का जन्म 18 जुलाई, 1918 को दक्षिण अफ्रीका में मबासा नदी के किनारे ट्रॉस्की के मवेजो गाँव में हुआ था। नेल्सन के पिता गाँव के प्रधान थे। नेल्सन अपने पिता की तीसरी पत्नी 'नेक्यूफी नोसकेनी' की पहली सन्तान थे। कुल मिलाकर वह तेरह भाईयों में तीसरे थे। लोग उम्मीद कर रहे थे कि वह परिवार की परम्परा के अनुसार शाही सलाहकार बनेंगे। नेल्सन की माँ एक मेथडिस्ट थीं। वह मेथडिस्ट मिशनरी स्कूल के विद्यार्थी बने। इसी बीच बारह साल की उम्र में ही नेल्सन के सिर से पिता का साया उठ गया। नेल्सन ने क्लार्कबेरी मिशनरी स्कूल से अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पूरी की।

विद्यार्थी जीवन में उन्हें रोज याद दिलाया जाता कि उनका रंग काला है और सिर्फ इसी वजह से वह यह काम नहीं कर सकते। उन्हें रोज इस बात का एहसास करवाया जाता कि अगर वे सीना तान कर सड़क पर चलेंगे तो इस अपराध के लिए उन्हें जेल जाना पड़ सकता है। ऐसे अन्याय ने उनके अन्दर असंतोष भर दिया। उन्होंने 'हेल्डटाउन' से अपनी स्नातक शिक्षा पूरी की। हेल्डटाउन अश्वेतों के लिए बनाया गया एक विशेष कॉलेज था। यहीं पर उनकी मुलाकात 'ऑलिवर टाम्बो' से हुई, जो जीवन भर के लिए उनके दोस्त और सहयोगी बने। 1940 तक नेल्सन मंडेला और ऑलिवर टाम्बो ने कॉलेज कैम्पस में अपने राजनीतिक विचारों और कार्यकलापों के लिए प्रसिद्धि पा ली। कॉलेज प्रशासन को जब इस बात का पता लगा तो दोनों को कॉलेज से निकाल दिया गया और परिसर में उनके प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया गया। 'फोर्ट हेयर' उनके क्रियाकलापों के मूर्त गवाह के रूप में आज भी खड़ा है। कॉलेज से निकाल दिए जाने के बाद वह माता-पिता के पास ट्रॉस्की लौट आए।

उन्हें क्रान्ति की राह पर देखकर परिवार परेशान था और चाहता था कि वह हमेशा के लिए घर लौट आए। जल्दी ही एक लड़की पसन्द की गई जिससे नेल्सन को पारिवारिक जिम्मेदारियों में बाँध दिया जाए। घर में विवाह की तैयारियाँ जोर-शोर से चल रही थीं,

Copyright Akhil Murti

दूसरी ओर नेल्सन का मन उद्वेलित था और आखिर में उन्होंने अपने निजी जीवन को दरकिनार करने का फैसला किया और घर से भागकर जोहान्सबर्ग आ गए। वह जोहान्सबर्ग की विशाल सड़कों पर यायावर की तरह भटक रहे थे। नेल्सन ने एक सोने की खदान में चौकीदार की नौकरी करना शुरू कर दिया। जोहान्सबर्ग की एक बस्ती अलेक्जेंडरा उनका ठिकाना था।

नेल्सन ने अपनी माँ के साथ जोहान्सबर्ग में ही रहने का इरादा किया। यहीं उनकी मुलाकात 'वाल्टर सिसुलू' और 'वाल्टर एल्बरटाइन' से हुई। नेल्सन के राजनीतिक जीवन को इन दो हस्तियों ने बहुत प्रभावित किया। नेल्सन ने जीवनयापन के लिए एक कानूनी फर्म में लिपिक की नौकरी कर ली। वह देख रहे थे कि उनके अपने लोगों के साथ इसलिए भेद किया जा रहा था क्योंकि प्रकृति ने उनको दूसरों से अलग रंग दिया था। इस देश में अश्वेत होना अपराध की तरह था। वे सम्मान चाहते थे और उन्हें लगातार अपमानित किया जाता था। रोज कई बार याद दिलाया जाता कि वे अश्वेत हैं और ऐसा होना किसी अपराध से कम नहीं है। 1944 में वह 'अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस या एएनसी' में शामिल हो गए। जल्दी ही उन्होंने टॉम्बो, सिसुलू और अपने कुछ साथियों के साथ मिलकर 'अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस यूथ लीग' का गठन किया। 1947 में मंडेला इस संस्था के सचिव चुन लिए गए। साथ ही उन्हें 'ट्रान्सवाल एएनसी' का अधिकारी भी नियुक्त किया गया।

नेल्सन की विचार शैली और काम करने की क्षमता से लोग प्रभावित होने लगे। इसी बीच अपने आप को कानून का बेहतर जानकार बनाने के लिए नेल्सन ने कानून की पढ़ाई शुरू की, लेकिन अपनी व्यस्तता के कारण वे एल.एल.बी. की परीक्षा पास करने में असफल रहे। इस असफलता के बाद उन्होंने एक वकील के तौर पर काम करने के बजाय अटॉर्नी के तौर पर काम करने के लिए पात्रता परीक्षा पास करने का फैसला किया। इसी बीच एएनसी को चुनावों में करारी पराजय का सामना करना पड़ा। कांग्रेस के अध्यक्ष को पद से हटाकर किसी नए अध्यक्ष को लाने की माँग जोर पकड़ने लगी। यूथ कांग्रेस के विचारों को अपनाकर मुख्य पार्टी के आगे बढ़ाने का विचार रखा गया। वाल्टर सिसुलू ने एक कार्य योजना का निर्माण किया, जो 'अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस' के द्वारा स्वीकार कर लिया गया। 1951 में नेल्सन को 'यूथ कांग्रेस' का अध्यक्ष चुन लिया गया। नेल्सन ने 1952 में एक कानूनी फर्म की स्थापना की।

यह वह दौर था जब पूरी दुनिया महात्मा गांधी से प्रभावित हो रही थी, नेल्सन भी उनमें से एक थे। वैचारिक रूप से वह स्वयं को गांधी के नजदीक पाते थे, और यह प्रभाव उनके द्वारा चलाए गए आन्दोलनों पर स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा था। कुछ ही समय में उनकी कंपनी देश में अश्वेतों द्वारा चलाई जा रही पहली कंपनी बन गई, लेकिन नेल्सन के लिए वकील का रोजगार और राजनीति को एक साथ लेकर चलना मुश्किल साबित हो रहा था।

सरकार को नेल्सन की बढ़ती हुई लोकप्रियता बिल्कुल पसन्द नहीं आ रही थी और उन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। उनको रंगभेद के आरोप में जोहान्सबर्ग के बाहर भेज दिया गया और उन पर किसी तरह की बैठक में भाग लेने पर रोक लगा दी गई। अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस का भविष्य ही दाँव पर लग गया था। सरकार के दमनचक्र से बचने के लिए नेल्सन और ऑलिवर टॉम्ब ने एक 'एम' प्लान बनाया। यहाँ पर 'एम' से मतलब मंडेला से था। फैसला लिया गया कि कांग्रेस को टुकड़ों में तोड़कर काम किया जाए और जरूरत पड़े तो भूमिगत रहकर भी काम किया जाएगा। प्रतिबंध के बावजूद नेल्सन भागकर केपटाउन पहुँच गए और कांग्रेस के जलसों में भाग लेने लगे। लोगों की भीड़ की आड़ में बचते हुए उन्होंने उन तमाम संगठनों के साथ काम किया, जो अश्वेतों की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे थे।

इसी दौरान उन्हें आम लोगों के साथ ज्यादा से ज्यादा वक्त बिताने का मौका मिला और उनमें जनमानस को समझने की समझ विकसित हुई। धीरे-धीरे अश्वेतों के अधिकारों के लिये चलाए जा रहे आन्दोलन में उनकी सक्रियता बढ़ती ही चली गई। नेल्सन के नेतृत्व में आन्दोलन की तीव्रता बढ़ती ही जा रही थी। सरकार बुरी तरह से घबराई हुई थी। इसी बीच ए.एन.सी. ने स्वतंत्रता का चार्टर स्वीकार किया और इस कदम ने सरकार का संयम तोड़ दिया। पूरे देश में गिरफ्तारियों का दौर शुरू हो गया। ए.एन.सी. के अध्यक्ष और नेल्सन के साथ पूरे देश से रंगभेद आन्दोलन का समर्थन करने वाले कई नेता गिरफ्तार कर लिए गए। आन्दोलन नेतृत्व विहीन हो गया। नेल्सन और साथियों पर देश के खिलाफ युद्ध छेड़ने और देशद्रोह करने का आरोप लगाया गया। इस अपराध की सजा मृत्युदण्ड थी। इन सभी नेताओं के खिलाफ मुकदमा चलाया गया और 1961 में नेल्सन और 29 साथियों को निर्दोष घोषित करते हुए रिहा कर दिया गया।

सरकार के दमनचक्र से एएनसी और नेल्सन का जनाधार बढ़ रहा था। लोग संगठन से जुड़ने लगे और आन्दोलन दिन-प्रतिदिन मजबूत होता जा रहा था। रंगभेदी सरकार आन्दोलन को तोड़ने के लिए हर सम्भव प्रयास कर रही थी। इसी बीच कुछ ऐसे कानून पारित किए गए, जो अश्वेतों को अस्वीकार थे। नेल्सन ने इन कानूनों का विरोध करने के लिए प्रदर्शन किया। इसी तरह के एक प्रदर्शन में दक्षिण अफ्रीकी पुलिस ने शार्पविले शहर में प्रदर्शनकारियों पर गोलियों की बौछार कर दी। 180 लोग मारे गए और 69 लोग घायल हुए। इस तरह की घटनाओं और सरकार द्वारा चलाए जा रहे क्रूर दमनचक्र ने नेल्सन का अहिंसा पर से विश्वास उठा दिया।

एएनसी और दूसरे प्रमुख दल ने हथियाबन्द लड़ाई लड़ने का फैसला किया। नेल्सन अपनी मौलिक राह छोड़कर एक दूसरे रास्ते पर निकल पड़े, जो उनके उसूलों से मेल नहीं खाता था। एएनसी के लड़ाके दल का नाम रखा गया, "स्पीयर ऑफ दी नेशन" और नेल्सन को इस नए गुट का अध्यक्ष बना दिया गया। रंगभेदी सरकार ने नेल्सन के दल पर प्रतिबंध लगा दिया। पूरी दुनिया में इस

Copyright – Akhil Murti

काम के लिए सरकार की आलोचना हो रही थी। सरकार का इरादा नेल्सन को गिरफ्तार कर पूरे संगठन को खत्म करने का था। इस त्रासदी से बचने के लिए उन्हें चोरी से देश के बाहर भेज दिया गया, ताकि वे स्वतंत्र रहकर अपने लोगों का नेतृत्व कर सकें। देश के बाहर आते ही उन्होंने सबसे पहले अदीस अबाबा में अफ्रीकी नेशनलिस्ट लीडर्स कान्फ्रेंस को सम्बोधित किया और बेहतर जीवन के अपने आधारभूत अधिकार की माँग की। वहाँ से निकलकर वे अल्जीरिया चले गए और लड़ने की गुरिल्ला तकनीक का गहन प्रशिक्षण लिया। इसके बाद उन्होंने लंदन की राह पकड़ी जहाँ ओलिवर टाम्बो एक बार फिर उनके साथ आ मिले। लंदन में विपक्षी दलों के साथ उन्होंने मुलाकात की और अपनी बात को पूरी दुनिया के सामने समझाने की कोशिश की। इसके बाद वे एक बार फिर दक्षिण अफ्रीका पहुँचे। जहाँ उन्हें पहुँचते ही गिरफ्तार कर लिया गया।

नेल्सन को पाँच साल की सजा सुनाई गई। आरोप लगा कि वे अवैधानिक तरीके से देश से बाहर गए। सरकार उन्हें कोई नेता मानने को तैयार नहीं थी। नेल्सन सहित सभी लोगों पर देश के खिलाफ लड़ने का आरोप तय किया गया। उनके सहित पाँच और लोगों को उम्रकैद की सजा सुनाई गई। आम जनता से दूर रखने के लिए उन्हें रोबिन द्वीप पर भेज दिया गया। यह दक्षिण अफ्रीका का कालापानी माना जाता है।

जेल जाने से पहले अदालत को अपने बयान से सम्बोधित करते हुए नेल्सन ने कहा- "अपने पूरे जीवन के दौरान मैंने अपना सबकुछ अफ्रीकी लोगों के संघर्ष में झोंक दिया। मैं श्वेत रंगभेद के खिलाफ लड़ा हूँ, और मैं अश्वेत रंगभेद के खिलाफ भी लड़ा हूँ। मैंने हमेशा एक मुक्त और लोकतांत्रिक समाज का सपना देखा है जहाँ सभी लोग एक साथ पूरे सम्मान, प्रेम और समान अवसर के साथ अपना जीवनयापन कर पायेंगे। यही वह आदर्श है, जो मेरे लिए जीवन की आशा बनी और मैं इसी को पाने के लिए जिन्दा हूँ, और अगर कहीं जरूरत है कि मुझे इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मरना है तो मैं इसके लिए भी पूरी तरह से तैयार हूँ।"

इन शब्दों ने दक्षिण अफ्रीकी आन्दोलन को हमेशा एक नई ऊर्जा दी। 1976 में नेल्सन के पास सरकार की तरफ से एक प्रस्ताव दिया गया कि अगर वे आन्दोलन को समाप्त कर दें तो सरकार उन्हें मुक्त कर देगी। देश की रंगभेदी सरकार पर पूरी दुनिया से दबाव बढ़ता जा रहा था। इन दबावों ने असर दिखाया और नेल्सन तथा सिसुलू को रोबिन द्वीप से अफ्रीका लाकर केपटाउन के नजदीक पाल्समूर जेल में रखा गया। यह नेल्सन की नेता के तौर पर जीत थी।

उनसे आग्रह किया गया कि वे आजादी प्राप्त करने के अपने लक्ष्य में हिंसा का रास्ता त्याग दें। हालाँकि नेल्सन ने एक बार फिर से साफ इनकार कर दिया, लेकिन सरकार ने उन पर रियायतों की झड़ी लगा दी। 1989 में दक्षिण अफ्रीका में सत्ता परिवर्तन हुआ और उदार एफ. डब्ल्यू. क्लार्क देश के मुखिया बने। सत्ता सम्भालते ही उन्होंने सभी अश्वेत दलों पर लगा हुआ प्रतिबंध हटा लिया। साथ ही सभी राजनीतिक बंदियों को आजाद कर दिया गया, जिन पर किसी तरह का आपराधिक मुकदमा दर्ज नहीं था। नेल्सन भी उनमें से एक थे। जिन्दगी की शाम में आजादी का सूर्य नेल्सन के जीवन को रोशन करने लगा। 11 फरवरी, 1990 को नेल्सन आखिर में पूरी तरह से आजाद कर दिए गए।

अश्वेतों को उनका अधिकार दिलवाने के लिए 1991 में 'कन्वेंशन फॉर ए डेमोक्रेटिक साउथ अफ्रीका' या 'कोडसा' का गठन कर दिया गया, जो देश के संविधान में आवश्यक परिवर्तन करने वाली थी। एफ.डी. क्लार्क और मंडेला ने इस काम में अपनी समान भागीदारी निभाई। इस उत्कृष्ट कार्य के लिए ही 1993 में नेल्सन मंडेला और एफ.डी. क्लार्क दोनों को संयुक्त रूप से शान्ति के लिए नोबेल पुरस्कार दिया गया। 1990 में भारत सरकार की ओर से नेल्सन मंडेला को भारत रत्न से सम्मानित दिया गया।

ठीक अगले साल दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद रहित चुनाव हुए। एएनसी को 62 प्रतिशत मत मिले और उसे सरकार बनाने का अवसर मिला। 10 मई, 1994 को अश्वेतों के लिए दक्षिण अफ्रीका की भूमि पर नेल्सन मंडेला ने अपनी जनता को सम्बोधित करते हुए कहा "आखिरकार हमने अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त कर ही लिया। हम अपने आप से वादा करें कि हम अपने सभी लोगों को आजादी देंगे, गरीबों से, मुश्किलों से, तकलीफों से, लिंगभेद से और किसी भी तरह के शोषण से। और कभी भी इस खूबसूरत धरती पर एक-दूसरे के साथ किसी तरह का भेदभाव नहीं किया जाएगा। स्वतंत्रता का आनंद उठाइए। ईश्वर अफ्रीका पर अपनी कृपा बनाए रखें।"- नेल्सन के इस सम्बोधन ने अफ्रीका के श्वेत लोगों के मन से डर निकाल दिया, जो देश की बहुसंख्यक जनता का प्रतिनिधित्व करती थी। जिसे युगों से उनके द्वारा प्रताड़ित और शोषित किया गया था। 1997 में नेल्सन ने सक्रिय राजनीति जीवन से किनारा कर लिया। 1999 में उन्होंने दल के अध्यक्ष पद को भी छोड़ दिया।

भारत के महान प्रशासक *(Great Administrators of India)*

अशोक *(Ashoka)*

अशोक प्राचीन भारत के मौर्य सम्राट बिंदुसार का पुत्र था। अशोक जन्म लगभग 304 ई. पूर्व में माना जाता है। कलिंग युद्ध में हुए नरसंहार तथा विजित देश की जनता के कष्ट से अशोक की अंतरात्मा को तीव्र आघात पहुँचा। युद्ध की विनाशलीला ने सम्राट को शोकाकुल बना दिया और वह प्रायश्चित करने के प्रयत्न में बौद्ध विचारधारा की ओर आकर्षित हुआ।

Copyright Akhil Murti

दीपवंश के अनुसार अशोक अपनी धार्मिक जिज्ञासा शान्त करने के लिए विभिन्न सिद्धांतों के व्याख्याताओं को राजसभा में बुलाता था। उन्हें उपहार देकर सम्मानित करता था और साथ ही स्वयं भी विचारार्थ अनेक सवाल प्रस्तावित करता था। वह यह जानना चाहता था कि धर्म के किन ग्रंथों में सत्य है। उसे अपने सवालों के जो उत्तर मिले उनसे वह संतुष्ट नहीं था।

संसार के इतिहास में अशोक इसलिए विख्यात है कि उसने निरन्तर मानव की नैतिक उन्नति के लिए प्रयास किया। जिन सिद्धांतों के पालन से यह नैतिक उत्थान सम्भव था, अशोक के लेखों में उन्हें 'धम्म' कहा गया है। दूसरे तथा सातवें स्तंभ-लेखों में अशोक ने धम्म की व्याख्या इस प्रकार की है, "धम्म है साधुता, बहुत से कल्याणकारी अच्छे कार्य करना, पापरहित होना, मृदुता, दूसरों के प्रति व्यवहार में मधुरता, दया-दान तथा शुचिता।" आगे, प्राणियों का वध न करना, जीवहिंसा न करना, माता-पिता तथा बड़ों की आज्ञा मानना, गुरुजनों के प्रति आदर, मित्र, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मण तथा श्रवणों के प्रति दानशीलता तथा उचित व्यवहार और भृत्यों के प्रति उचित व्यवहार के बारे में कहा गया है।

सभी बौद्ध ग्रंथ अशोक को बौद्ध धर्म का अनुयायी बताते हैं। अशोक के बौद्ध होने के सबल प्रमाण उसके अभिलेख हैं। भाब्रू लघु शिलालेख में अशोक बुद्ध, धम्म और संघ में विश्वास करने के लिए कहता है और भिक्षु तथा भिक्षुणियों से कुछ बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन तथा श्रवण करने के लिए कहता है। लघु शिलालेख से यह भी पता चलता है कि राज्याभिषेक के दसवें वर्ष में अशोक ने बोधगया की यात्रा की, बारहवें वर्ष वह निगालिसागर गये और बुद्ध के स्तूप के आकार को दोगुना करवाया। महावंश तथा दीपवंश के अनुसार उसने तृतीय बौद्ध संगीति (सभा) बुलाई और मोग्गलिपुत्त तिस्स की सहायता से संघ में अनुशासन और एकता लाने का सफल प्रयास किया।

अशोक के लेख शिलाओं, प्रस्तर स्तम्भों और गुफाओं में पाये जाते हैं। अशोक के लेखों को तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है-शिलालेख, स्तम्भलेख, लघुस्तम्भलेख और गुफालेख।

अकबर *(Akbar)*

मुगल बादशाह हुमायूं और हमीदा बानू बेगम के पुत्र अकबर का जन्म 15 अक्टूबर, 1542 ई. अमरकोट के राणा वीरसाल के महल में हुआ था। निरंतर युद्धों में संलग्न रहने के कारण अकबर आजीवन निरक्षर रहा लेकिन इसका अर्थ यह नहीं निकालना चाहिये कि वह अशिक्षित भी था। अकबर ने अपने राज्य में कई सुधार किए थे। मुगलकालीन शासन व्यवस्था में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। उसके समय में किए गए कुछ सुधार इस प्रकार से हैं-

1. युद्ध में बन्दी बनाये गये व्यक्तियों के परिवार के सदस्यों को दास बनाने की परम्परा को तोड़ते हुए अकबर ने दास प्रथा पर 1562 ई. से पूर्णतः रोक लगा दी।
2. अगस्त, 1563 ई में अकबर ने विभिन्न तीर्थ स्थलों पर लगने वाले 'तीर्थ यात्रा कर' की वसूली को बन्द करवा दिया।
3. मार्च, 1564 ई. में अकबर ने 'जजिया कर', जो गैर-मुस्लिम जन से व्यक्ति कर के रूप में वसूला जाता था, को बन्द करवा दिया।
4. 1571 ई. में अकबर ने फतेहपुर सीकरी को अपनी राजधानी बनाया। 1583 ई. में अकबर ने एक नया कैलेण्डर इलाही संवत् जारी किया।
5. अकबर ने सती प्रथा पर रोक लगाने का प्रयास किया, विधवा विवाह को प्रोत्साहित किया।
6. लड़कों के विवाह की न्यूनतम आयु 16 वर्ष तथा लड़कियों के विवाह की न्यूनतम आयु 14 वर्ष निर्धारित की गई।

अकबर की राजपूत नीति उसकी गहन सूझ-बूझ का परिणाम थी। अकबर राजपूतों की शत्रुता से अधिक उनकी मित्रता को महत्त्व देता था। अकबर की राजपूत नीति दमन और समझौते पर आधारित थी। उसके द्वारा अपनायी गयी नीति पर दोनों पक्षों का हित निर्भर करता था। अकबर ने राजपूत राजाओं से दोस्ती कर श्रेष्ठ एवं स्वामिभक्त राजपूत वीरों को अपनी सेवा में लिया, जिससे मुगल साम्राज्य काफी दिनों तक जीवित रह सका। राजपूतों ने मुगलों से दोस्ती एवं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने को अधिक सुरक्षित महसूस किया। इस तरह अकबर की एक स्थायी, शक्तिशाली एवं विस्तृत साम्राज्य की कल्पना को साकार करने में राजपूतों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। अकबर ने कुछ राजपूत राजाओं जैसे-भगवान दास, राजा मानसिंह, बीरबल एवं टोडरमल को उच्च मनसब प्रदान किया था।

अकबर प्रथम सम्राट था जिसके धार्मिक विचारों में क्रमिकता देखी जा सकती है। शुरुआती दौर में अकबर पर पारिवारिक कारणों से इस्लाम का प्रभाव दिखता है लेकिन आगे चलकर उस पर इस्लाम का प्रभाव कम हो गया प्रतीत होता है। इसका पता उसके इस कदम से चलता है जब 1575 ई. में उसने फतेहपुर सीकरी में इबादतखाने की स्थापना की और 1578 ई. में इबादतखाने को धर्म संसद में बदल दिया। उसने शुक्रवार को मांस खाना छोड़ दिया। 1579 ई. में महजर की घोषणा कर अकबर धार्मिक मामलों में सर्वोच्च निर्णायक बन गया। महजरनामा का प्रारूप शेख मुबारक द्वारा तैयार किया गया था। उलेमाओं ने अकबर को 'इमामे-आदिल' घोषित कर विवादास्पद कानूनी मामले पर आवश्यकतानुसार निर्णय का अधिकार दिया। हर रविवार की संध्या को

Copyright – Akhil Murti

इबादतखाने में विभिन्न धर्मों के लोग एकत्र होकर धार्मिक वार्ता हेतु उपस्थित होते थे, परन्तु कालान्तर में अन्य धर्मों के लोग जैसे ईसाई, जरथुस्थ्रवादी, हिन्दू, जैन, बौद्ध, फारसी, सूफी आदि को इबादतखाने में अपने-अपने धर्म के पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित किया गया। सभी धर्मों के सार संग्रह के रूप में अकबर ने 1582 ई. में दीन-ए-इलाही (तौहीद-ए-इलाही) या दैवी एकेश्वरवाद नामक धर्म का प्रवर्तन किया तथा उसे राजकीय धर्म घोषित कर दिया। सम्राट अकबर ने सभी धर्म वालों को अपने मंदिर-देवालय आदि बनवाने की स्वतंत्रता प्रदान की थी जिसके कारण ब्रज के विभिंन स्थानों में पुराने पूजा-स्थलों का पुनरूद्धार किया गया और नये मंदिर-देवालयों को बनवाया गया था। अकबर ने गौ-वध बंद करने की आज्ञा देकर हिन्दू जनता के मन को जीत लिया था।

वी. पी. मेनन *(V. P. Menon)*

प्रसिद्ध प्रशासक राय बहादुर वप्पाला पनगुन्नी मेनन या वी. पी. मेनन (30 सितम्बर, 1893 - 31 दिसम्बर, 1965) का नाम देश के सर्वश्रेष्ठ प्रशासकों की सूची में शामिल किया जाता है। उन्होंने 1945-1950 के समय में नव स्वतंत्र हुये भारत के एकीकरण में अतिप्रशंसनीय भूमिका का निर्वहन किया था।

केरल के एक स्कूल शिक्षक के पुत्र मेनन भारतीय सिविल सेवा में आने से पहले रेलवे में कोयला झोंकने वाले, कोल खदान में और बेंगलूर टोबैको कंपनी में काम कर चुके थे। अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर वह ब्रिटिश इंडिया में सर्वोच्च प्रशासनिक पद पर पहुँचे। उन्हें 1946 में ब्रिटिश वायसराय लॉर्ड लुइस माउंटबेटन का राजनीतिक सलाहकार बनाया गया। उनकी योग्यता से सरदार पटेल बहुत प्रभावित थे और उनका मेनन की राजनीतिक सूझबूझ और नैतिकता पर बहुत विश्वास था। स्वयं मेनन सरदार पटेल का बहुत आदर करते थे। मेनन और पटेल की परस्पर विश्वास परक कार्यशैली एक राजनेता और एक प्रशासक के मध्य तालमेल का बहुत महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। यह ऐसे दौर में हुआ जब सिविल सेवकों के प्रति भारतीय राजनीतिज्ञों की बहुत अच्छी राय नहीं थी।

मेनन ने पटेल के साथ काम करते हुये करीब 565 रियासतों का भारत में विलय करवाने में अद्भुत सफलता हासिल की। केंद्र सरकार और सैकड़ों रियासतों के राजकुमारों के बीच कई दौर की बात करने वाले श्री मेनन का नाम भारत के एकीकरण के इतिहास में सुनहरे अक्षरों में दर्ज हो चुका है। मेनन ने विलय को अस्वीकार करने वाले जूनागढ़ एवं हैदराबाद के निजाम के खिलाफ सैनिक कार्रवाई करने का सरकार के कठोर फैसले में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कश्मीर पर पाकिस्तान के हमले के समय नेहरु और पटेल ने उनसे सलाह की। पटेल के निधन के बाद मेनन ने सिविल सेवा से सेवानिवृत्ति ले ली और बाद में 'स्वतंत्र पार्टी' में शामिल हो गये। उन्होंने दो किताबें लिखीं है- The Story of the Integration of Indian States और Transfer of Power.

के.एम. पणिक्कर *(K.M. Panikkar)*

तीन जून, 1895 को जन्मे कावलम माधव पणिक्कर या के.एम. पणिक्कर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्हें पत्रकारिता, इतिहास, प्रशासक और कूटनीति के क्षेत्र में महारथ हासिल थी। उनका जन्म ब्रिटिश भारत के रजवाड़े त्रावणकोर में हुआ था। केरल के कोट्टायम, मद्रास और क्राइस्ट चर्च यूनिवर्सिटी ऑफ ऑक्सफोर्ड में अध्ययन करने वाले पणिक्कर ने लंदन के मिडिल टेंपल में भी पढ़ाई की। वह केरल साहित्य अकादमी के पहले अध्यक्ष भी रहे। पणिक्कर ने पुर्तगाल और हालैंड की यात्राएँ भी कीं। इसका मकसद इन देशों का मालाबार के साथ संबंधों के इतिहास का अध्ययन करना था। ये अध्ययन उन्होंने 'मालाबार एंड द पोर्टगीज' और 'मालाबार एंड द एच' के नाम से प्रकाशित हुये।

उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और कलकत्ता यूनिवर्सिटी में अध्यापन किया। फिर उनका रूझान पत्रकारिता की ओर हुआ और वह 1925 में हिन्दुस्तान टाइम्स के संपादक नियुक्त किये गये। वह पटियाला रियासत और बीकानेर रियासत के विदेश मंत्री भी रहे। वे चीन, फ्रांस और मिस्र में भी रहे। भारत वापसी पर उन्हें जम्मू कश्मीर विश्वविद्यालय का कुलपति बनाया गया। वह बाद में मैसूर विश्वविद्यालय में भी इसी पद पर रहे। उनकी साहित्यिक रूचियाँ भी बहुत प्रशंसनीय रहीं। उन्होंने कई लेख व कविताएँ लिखीं और ग्रीक नाटकों का मलयालम में अनुवाद किया। उनका मलयालम और अंग्रेजी भाषा का ज्ञान उच्च कोटि का था। उन्होंने इन दोनों भाषाओं में करीब 50 से अधिक किताबें लिखीं। 10 दिसम्बर, 1963 को उनका निधन हो गया।

सी.डी. देशमुख *(Chintaman Dwarakanath Deshmukh)*

14 जनवरी, 1896 को जन्मे चिंतामन द्वारका देशमुख प्रशासनिक सेवा के अधिकारी रहे हैं। उनका जन्म महाराष्ट्र के रायगढ़ में धार्मिक झुकाव वाले परिवार में हुआ था। उनके परिवार की पृष्ठभूमि भी प्रशासनिक कार्यों की रही थी। देशमुख बहुत योग्य छात्र थे। उन्होंने बॉम्बे विश्वविद्यालय में 1912 में मैट्रिक परीक्षा में सर्वोच्च स्थान हासिल किया था। वे फिर बाद में स्नातक की पढ़ाई करने जीसस कॉलेज, कैम्ब्रिज (इंग्लैण्ड) गये। उस समय लंदन में होने वाली भारतीय प्रशासनिक सेवा परीक्षा (1918) में उन्होंने प्रथम स्थान हासिल किया था।

Copyright Akhil Murti

वह ऐसे पहले भारतीय हैं जिन्हें ब्रिटिश राज में 1943 में रिजर्व बैंक का गवर्नर बनाया गया था। वह कैबिनेट में 1950-56 में वित्त मंत्री भी रहे। उनके कार्यकाल में ही नेशनल काउंसिल ऑफ अप्लाइड इकोनॉमिक रिसर्च की कार्यकारी परिषद आदि संस्थाएँ बनीं। वे यूजीसी के चेयरमैन, दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति, भारतीय सांख्यिकी संस्थान के प्रमुख, नेशनल बुक ट्रस्ट के प्रमुख भी रहे। उन्होंने इंडिया इंटरनेशनल सेंटर की नींव रखी और आजीवन इसके प्रमुख रहे। वह इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन के अध्यक्ष भी रहे।

देशमुख ने ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व किया था। प्रसंगवश इसी सम्मेलन ने आईएमएफ और आईबीआरडी की नींव रखी। वे इन संस्थाओं में दस साल तक रहे और पेरिस में इन दोनों संस्थाओं के सम्मेलन में संयुक्त सालाना बैठक की अध्यक्षता भी की। भारत-पाक विभाजन के दौरान उन्होंने विभाजन के बाद परिसंपत्तियों और जिम्मेदारियों के बंटवारे के काम में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। देशमुख की देखरेख में ही यह बैंक शेयरहोल्डरों की संस्थाओं से राष्ट्रीय संस्थान में तब्दील हुआ। वह देश की एक ऐसी अनोखी प्रतिभा थे जिनमें विचार और तटस्थता, संस्कृति और विज्ञान, समग्रता, समर्पण और दूरदृष्टि और ऊर्जावान व्यक्तित्व का अद्भुत तालमेल था। उनके अपनी ब्रिटिश पत्नी से संबंध ज्यादा दिन नहीं चले और तब उन्होंने दूसरा विवाह वैधव्य का जीवन बिता रहीं स्वतंत्रता सेनानी दुर्गाबाई देशमुख से विवाह किया।

वर्ष 1974 में उनकी आत्मकथा 'द कोर्स ऑफ माई लाइफ' प्रकाशित हुई। उन्हें सरकारी सेवाओं में योगदान के लिए रमन मैग्सेसे अवार्ड दिया गया। सन् 1975 में उन्हें पद्म विभूषण सम्मान दिया गया।

पी. एन. हक्सर *(P. N. Haksar)*

प्रसिद्ध प्रशासनिक अधिकारी और कूटनीतिज्ञ 'परमेश्वर नारायणन हक्सर' (4 सितम्बर, 1913 - 25 नवम्बर, 1998) को लोकप्रिय तौर पर 'पी. एन. हक्सर' के नाम से जाना जाता है। वह देश की प्रधानमंत्री रहीं इंदिरा गांधी के छह वर्ष (1967-73) तक प्रधान सचिव रहे थे। 1970 के दशक के मध्य में जब श्रीमती गांधी ने सत्ता की बागडोर संभाली तो उन्हें शासन का ज्यादा अनुभव नहीं था। ऐसे में श्री हक्सर ने अपनी योग्यता और दूरदर्शिता से उनकी शासन पर पकड़ मजबूत की और भारत को दुनिया का महत्वपूर्ण देश विकसित करने में महान योगदान दिया। वह योजना आयोग के उपाध्यक्ष भी बनाये गये। उनकी असाधारण योग्यता को देखते हुये उन्हें नई दिल्ली स्थित जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय के पहले कुलपति के पद पर नियुक्त किया गया।

श्री हक्सर ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम. एससी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। कला के इतिहास और पेंटिंग्स के शौकीन श्री हक्सर ने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में भी अध्ययन किया। लंदन में वह समाजवाद और मार्क्सवाद की ओर आकर्षित हुये। उन्होंने इलाहाबाद में बतौर वकील अपना पेशेवर जीवन शुरु किया और 1947 में वे भारतीय विदेश सेवा के लिए चुने गये। वे ऑस्ट्रिया और नाईजीरिया के राजदूत भी रहे। वह केंद्रीयकरण, समाजवाद की पक्षधरता, मानवाधिकारों के लिए संघर्ष, नवउदारवाद के विरोध और धर्मनिरपेक्षता के प्रति गहरे झुकाव के लिए भी जाने जाते हैं।

श्री हक्सर को कूटनीतिज्ञ सेवाओं में 22 वर्ष बिताने के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी का सचिव नियुक्त किया गया। 1967 में वह उनके प्रधान सचिव बने। उनकी प्रशासनिक दक्षता का प्रभाव घरेलू और विदेश नीति पर आसानी से देखा जा सकता है। श्रीमती गांधी के बांग्लादेश के मुक्ति संग्राम को समर्थन देने के पीछे श्री हक्सर की भी बड़ी भूमिका थी। इतना ही नहीं उन्होंने बैंकों, बीमा और विदेशी तेल कंपनियों के राष्ट्रीयकरण, 1971 की इंडो-सोवियत संधि, बांग्लादेश की आजादी के मामलों से जुड़े फैसलों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। श्री हक्सर को पाकिस्तान के साथ हुये प्रसिद्ध शिमला समझौते में भी मुख्य रचनाकार माना जाता है।

मोहम्मद युनूस *(Mohammad Yunus)*

भारतीय विदेश सेवा के महत्त्वपूर्ण अधिकारी मोहम्मद युनूस का जन्म 26 जून, 1916 को हुआ। वह इंडोनेशिया, टर्की, इराक और स्पेन जैसे महत्त्वपूर्ण देशों में राजदूत के पद पर रहे। उनका देश को बहुत बड़ा योगदान दिल्ली में प्रगति मैदान की स्थापना और नियमित रूप से व्यापार मेलों का आयोजन संचालित करवाना रहा है। पाकिस्तान के एबटाबाद में जन्मे युनूस ने इस्लामिया कॉलेज पेशावर, मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़ में अध्ययन किया। उन्होंने सीमांत गांधी के नाम से मशहूर स्वतंत्रता सेनानी खां अब्दुल गफ्फार खां के संगठन खुदाई खिदमतगार में 1936 से 1947 तक काम किया। मोहम्मद युनूस उच्च कोटि के वक्ता थे और हमेश नपा-तुला बोलते थे।

विभाजन से पहले ही वह भारत आ गये और 1947 के कठिन दौर में भारतीय विदेश सेवा में चुने गये। इस सेवा में आने के बाद उन्होंने लुसाका, अल्जीरिया, कोलम्बो और नई दिल्ली में हुये गुट निरपेक्ष देशों के सम्मेलनों में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। उन्होंने 1955 में हुये बांडुंग सम्मेलन में भी भागीदारी की। उनकी अपूर्व क्षमताओं को देखते हुये प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी का विशेष दूत बनाया गया। वह राज्यसभा के भी सदस्य रहे। उनका 17 जून, 2001 में निधन हो गया। उनकी मशहूर किताब 'फ्रंटियर स्पीकर्स' है। इस किताब पर 1942 में सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया था। उनकी अन्य किताब 'कैदी के खत' तथा 'पर्सन, पैशन एंड पॉलिटिक्स' है।

Copyright - Akhil Murti

पी. सी. अलेक्जेंडर *(P. C. Alexander)*

पदिनजारेथक्कल चेरियन अलेक्जेंडर (Padinjarethalakar Cherian Alexander) या पी. सी. अलेक्जेंडर (20 मार्च, 1921 - 10 अगस्त, 2011) का नाम देश के योग्यतम अधिकारियों में गिना जाता है। उन्होंने न केवल सफलतापूर्वक प्रशासनिक दायित्व संभाला अपितु तमिलनाडु, महाराष्ट्र के राज्यपाल के पदों पर भी कार्य किया। वह राज्यसभा सांसद (2002-2008) भी रहे। उन्हें प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के उत्तरार्द्ध के समय में किये गये कार्यों के लिए विशेष तौर पर जाना जाता है।

अलेक्जेंडर श्रीमती गांधी के प्रधान सचिव रहे। उन्होंने कुछ समय प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी के साथ भी काम किया। उनका बतौर सिविल सर्वेंट कार्यकाल 1948 में शुरु हुआ। अपनी योग्यता और क्षमता के बल पर वह श्रीमती गांधी के निकट पहुँचे और जल्द ही उन्हें श्रीमती गांधी की छाया तक कहा जाने लगा। उनकी प्रसिद्ध किताबों में Through the Corridors of Power, My Years with Indira Gandhi, The Perils of Democracy और India in the New Millennium शामिल हैं। Through the Corridors of Power किताब में सरकार की कार्यप्रणाली का उल्लेख किया गया।

वर्गीस कुरियन *(Verghese Kurien)*

कुरियन ने भारत को दुग्ध उत्पादन में अग्रणी देश बनाने के लिये राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड (एन.डी.डी.बी) ने 1970 में ऑपरेशन फ्लड कार्यक्रम चलाया जिसे श्वेत क्रांति के रूप में जाना जाता है। श्वेत क्रांति की सफलता के मुख्य वाहक डा. वर्गीस कुरियन ही माने जाते हैं। इसलिए उन्हें श्वेत क्रांति का जनक भी कहा जाता है। उनका जन्म 26 नवम्बर 1921 को कालीकट (केरल) में हुआ था।

इनके पिता कोचीन में सर्जन थे और उन्होंने वर्गीस की पढाई लिखाई में कोई कसर नहीं छोड़ी मद्रास के प्रसिद्ध लोयोला कॉलेज से भौतिकी में स्नातक करनेवाले वर्गीज आगे की पढ़ाई के लिए जमशेदपुर के टाटा स्टील टेकनीकल इंस्टीट्यूट में दाखिल हो गये। 1946 में वर्गीस कुरियन अमेरिका चले गये और वहाँ उन्होंने मिशिगन विश्वविद्यालय से धातु विज्ञान में मास्टर्स डिग्री हासिल की। इधर भारत आजाद हो चुका था और उस वक्त के किसी नौजवान की ही तरह वे भी विदेश में रहने की बजाय भारत लौटना ज्यादा बेहतर समझते थे। इसलिए 1949 में वे भारत वापस लौट आये। 1949 में भारत सरकार की प्रतिनियुक्ति पर कुरियन 'गवर्नमेंट रिसर्च क्रिमरी, आणंद' पहुंचे।

यहाँ कुरियन की मुलाकात खैरा जिला दुग्ध उत्पादक समिति के अध्यक्ष त्रिभुवन दास पटेल से हुई। तब त्रिभुवनदास पटेल आणंद में पाँच गाँवों की एक सहकारी दुग्ध समिति चलाते थे। त्रिभुवनदास ने तय किया था कि वे पॉलसन कंपनी को दूध नहीं देंगे जो कि आणंद से दूध ले जाकर मुंबई में कारोबार करती थी। पटेल और कुरियन ने तय किया कि वे मिलकर कोऑपरेटिव को मजबूत करेंगे। कुरियन ने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया और 1954 में डेयरी की स्थापना कर दी गई। इस डेयरी के चेयरमैन त्रिभुवनदास पटेल थे जबकि जनरल मैनेजर का कार्यभार खुद कुरियन ने संभाला। इस अमूल कंपनी का उद्घाटन 1955 में खुद पंडित जवाहरलाल नेहरू ने किया। हालाँकि अमूल नाम दो साल बाद रजिस्टर्ड हुआ।

अमूल की स्थापना के एक दशक के भीतर ही कुरियन ने सफलता की ऐसी कहानी लिख दी कि 1965 में तत्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने इस प्रयोग का राष्ट्रीय स्तर पर उतारने का निश्चय किया। शास्त्री जी की पहल पर राष्ट्रीय डेयरी डेवलपमेन्ट बोर्ड का गठन किया गया जिसकी जिम्मेदारी कुरियन को सौंपी गई। 1970 से लेकर 1996 के बीच करीब 26 साल तक चले डेयरी डेवलपमेन्ट कार्यक्रमों का नतीजा यह हुआ कि भारत दुनिया का सबसे बड़ा दुग्ध उत्पादक देश बन गया। इस दौरान देशभर में 72 हजार सहकारी दुग्ध समितियाँ स्थापित की गईं और अमूल की ही तर्ज पर हर प्रदेश के अपने-अपने ब्रांड विकसित किये गये। कुरियन ने अमूल के साथ जो प्रयोग शुरू किया था वही उनका परिचय बना। उनका 09 सितम्बर 2012 को नाडियाड में निधन हो गया।

आई. जी. पटेल *(I.G. Patel)*

11 नवम्बर, 1924 को जन्मे इंद्रप्रसाद गोर्धनभाई पटेल या आई. जी. पटेल भारतीय रिजर्व बैंक के 14वें गवर्नर (1977-1982) थे। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री श्री पटेल वित्त मंत्रालय में सचिव पद के अलावा यूएनडीपी में कार्यरत रहे। बेहद ईमानदार श्री पटेल का कार्यकाल एक हजार, पाँच हजार और दस हजार रूपये के नोट का प्रचलन बंद करने के कठोर फैसले के लिए जाना जाता है। रिजर्व बैंक के कार्यकाल की समाप्ति के बाद वह भारतीय प्रबंधन संस्थान (आईआईएम) अहमदाबाद में निदेशक के पद पर रहे।

उनकी अपूर्व क्षमताओं के कारण ही उन्हें लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स एंड पॉलिटिकल साइंस में निदेशक का अतिप्रतिष्ठित पद भी सौंपा गया। यह किसी दक्षिण एशियाई व्यक्ति को पहली बार इस पद का कार्यभार सौंपा गया था। बाद में उन्होंने महाराजा सयाजीराव सिंधिया विश्वविद्यालय, बड़ौदा में अध्यापन का कार्य भी किया।

Copyright Akhil Murti

उनकी योग्यताओं के कारण 1991 में प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हा राव ने उनसे देश के वित्त मंत्रालय को संभालने का आग्रह किया लेकिन उन्होंने विनम्रतापूर्वक यह आग्रह अस्वीकार कर दिया। अर्थशास्त्र और प्रशासन में उनके योगदान को देखते हुये उन्हें 1991 में पद्म विभूषण दिया गया। 17 जुलाई, 2005 को उनका निधन हो गया।

एम.एस. स्वामीनाथन *(M. S. Swaminathan)*

प्रो. एम.एस. स्वामीनाथन का जन्म तमिलनाडु के कुंभकोणम में 7 अगस्त 1925 को हुआ। प्रो. एम.एस. स्वामीनाथन मूल रूप से वनस्पति आनुवांशिक वैज्ञानिक (जेनेटिक वैज्ञानिक) हैं। उन्होंने वर्ष 1966 में मैक्सिको के बीजों को पंजाब की घरेलू किस्मों के साथ मिश्रित करके उच्च उत्पादकता वाले गेहूं के संकर बीज विकसित किए। इनको विज्ञान एवं अभियांत्रिकी के क्षेत्र में भारत सरकार द्वारा 1972 में पद्म् भूषण से सम्मानित किया गया।

प्रो. एम.एस. स्वामीनाथन भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली (1966-72) के निदेशक और भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के महानिदेशक के अलावा कृषि अनुसंधान एवं शिक्षा विभाग के सचिव (1972-79) रहे।

सामान्यत: भारत के सम्बंध में यह भावना बनी हुई थी कि कृषि से जुड़े होने के बावजूद भारत के लिए भुखमरी से निजात पाना कठिन है। इसका कारण यही था कि भारत में कृषि के सदियों से चले आ रहे उपकरण और बीजों का प्रयोग होता रहा था। फसलों की उन्नति के लिए बीजों में सुधार की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। एम. एस. स्वामीनाथन ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सबसे पहले गेहूँ की एक ऐसी किस्म को पहचाना और स्वीकार किया कि इस कार्य के द्वारा भारत को अन्न के मामले में आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है। यह मैक्सिकन गेहूँ की एक किस्म थी जिसे स्वामिनाथन ने भारतीय खाद्यान्न की कमी दूर करने के लिए पहले अपनाने के लिए स्वीकार किया। इसके कारण भारत के गेहूँ उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। इसलिए स्वामीनाथन को भारत में हरित क्रांति का अगुआ माना जाता है। स्वामीनाथन के प्रयत्नों का परिणाम यह है कि भारत की आबादी में प्रतिवर्ष पूरा एक ऑस्ट्रेलिया समा जाने के बाद भी खाद्यान्नों के मामले में आत्मनिर्भर बन चुका है। भारत के खाद्यान्नों का निर्यात भी किया गया है और निरंतर उसके उत्पादन में वृद्धि होती रही है।

लंदन की रॉयल सोसायटी सहित विश्व की 14 प्रमुख विज्ञान परिषदों ने एम.एस. स्वामीनाथन को अपना मानद सदस्य चुना है। अनेक विश्वविद्यालयों ने डॉक्टरेट की उपधियों से उन्हें सम्मानित किया है। 1967 में भारत सरकार ने पद्म श्री और 1972 में पद्मभूषण से सम्मानित करके एक ऐसे व्यक्ति को महत्व दिया है जिसने स्वयं कभी प्रचार की ओर आकर्षण नहीं दिखाया। 1971 में इन्हें रमन मैग्सेसे पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया।

प्रो. एम.एस. स्वामीनाथन का चयन वर्ष 2012 के इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार के लिए भी किया गया।

जगमोहन मल्होत्रा *(Jagmohan Malhotra)*

जगमोहन मल्होत्रा का जन्म पाकिस्तान के हफीजाबाद में 25 सितम्बर 1927 को हुआ। उनके भारतीय प्रशासनिक सेवा के कॅरियर में एक बड़ा मोड़ तब आया जब आपातकाल (1975-1977) के दौरान उन्हें दिल्ली विकास प्राधिकरण (DDA) का उपाध्यक्ष बनाया गया। उन्हें तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के पुत्र संजय गांधी के निकट समझा जाता था। श्री जगमोहन ने इस दौरान दिल्ली को झुग्गी मुक्त करने का प्रयास किया और कुछ पुनर्वास कॉलोनियों का निर्माण करवाया। इस दौरान उनकी कार्यशैली पर सवाल लगे लेकिन दृढनिश्चय के धनी श्री जगमोहन ने कठोरता का परिचय दिया। उनकी सेवाओं के कारण 1980 में उन्हें दिल्ली का उपराज्यपाल बनाया गया। दिल्ली में आयोजित 1982 के एशियाड खेलों का आयोजन सफल बनाने के लिए उनकी सेवाएं ली गईं। उसी समय देश में गुटनिरपेक्ष सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसकी सफलता का श्रेय भी जगमोहन को गया। 1984 से 1989 तक जम्मू कश्मीर के राज्यपाल पद पर बने रहने के दौरान आतंकवाद के दौर में श्री जगमोहन ने काफी कुशलता से प्रशासन का संचालन किया। इस समय उन्होंने हिंदूओं के पवित्र स्थल वैष्णोदेवी के विकास के लिए बहुत काम किया। उनकी दक्षता को देखते हुये उन्हें एक बार फिर यही पद सौंपा गया। श्री जगमोहन को 1971 में पद्म श्री और 1977 में पद्म भूषण प्रदान किया गया।

ब्रजेश मिश्रा *(Brajesh Mishra)*

भारत के प्रथम राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहार एवं आधुनिक चाणक्य कहे जाने वाले ब्रजेश मिश्रा का जन्म 29 सितम्बर 1928 को हुआ था। कांग्रेस दल से जुड़े पिता द्वारिका नाथ मिश्र मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री रहे। ब्रजेश मिश्रा ने अटल बिहारी वाजपेयी के कार्यकाल के दौरान राष्ट्रीय सुरक्षा एवं विदेश नीति को लक्ष्योन्मुख दिशा देने में केंद्रीय भूमिका निभायी। 28 सितंबर, 2012 को 84 साल की उम्र में दुनिया से विदा हुए श्री मिश्रा का आकलन कठिन दौर के धुरंधर रणनीतिकार के तौर पर हमेशा होता रहेगा।

ब्रजेश मिश्रा 1951 में भारतीय विदेश सेवा के अधिकारी बने। उन्होंने इंडोनेशिया में भारत के राजदूत एवं बाद में संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के स्थायी प्रतिनिधि होने का गौरव पाया। अफगानिस्तान में सोवियत संघ की दखलंदाजी के मसले पर भारत के रुख को लेकर तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी से मतभेद के कारण उन्हें संयुक्त राष्ट्र की जिम्मेदारी छोड़नी पड़ी।

Copyright – Akhil Murti

सेवानिवृत्ति के बाद 1991 में मिश्रा भाजपा में शामिल हो गए और राजग के कार्यकाल (1998-2004) के दौरान उन्होंने भारत की विदेश नीति एवं राष्ट्रीय सुरक्षा को सही दिशा देने में निर्णायक भूमिका अदा की। मार्च 1998 में प्रधानमंत्री वाजपेयी का प्रधान सचिव बनने के अलावा उन्हें मई 1998 के पोखरण एटमी परीक्षणों के बाद देश का प्रथम राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बनने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। एक साथ दो शीर्ष जिम्मेदारियों को निभाते हुए मिश्रा वाजपेयी सरकार के दौरान राष्ट्रीय सुरक्षा एवं विदेश नीति दोनों के असली कर्णधार बने।

मिश्रा ने विदेश एवं राष्ट्रीय सुरक्षा नीति का जो ब्लूप्रिंट तैयार किया, उसका असर आज भी सरकारी निर्णयों में महसूस किया जा सकता है। जिस दौर में वह भारतीय विदेश नीति एवं राष्ट्रीय सुरक्षा के असली नायक थे, उस दौर को तूफानी घटनाक्रम वाले दौर के रूप में याद किया जाता रहेगा। यह दौर पोखरण एटमी परीक्षणों और इनसे पैदा हुई राजनीतिक-राजनयिक सुनामी, अमेरिका से संबंध सुधार, लाहौर समझौता, वाजपेयी की ऐतिहासिक लाहौर बस यात्रा, कारगिल युद्ध, क्लिंटन की बहुचर्चित भारत यात्रा, भारतीय संसद पर आतंकी हमला एवं भारत-पाक तनाव, ऑपरेशन पराक्रम, रूस एवं चीन से रिश्ते में सुधार और कई दूसरी घटनाओं का गवाह रहेगा। इन तमाम मसलों के प्रबंधन में उन्होंने वाजपेयी के लिए चाणक्य की भूमिका निभाई।

मिश्रा ने 1999 में कारगिल लड़ाई के दौरान अहम भूमिका निभाई थी। वर्ष 2004 में राजग सरकार के चले जाने के बाद उन्हें पद छोड़ना पड़ा। उन्होंने अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धताओं की परवाह किये बगैर भारत-अमेरिका परमाणु करार का समर्थन किया। जिस तरह श्री मनमोहन सिंह को देश में आर्थिक उदारीकरण की पटकथा बुनने का श्रेय जाता है, तो मिश्रा को भी भारत सुरक्षा एवं विदेश-नीति के उदारीकरण का सूत्रधार कहा जा सकता है। मिश्रा ने निर्णय प्रक्रिया में तेजी, समन्वय एवं जवाबदेही को खास तवज्जों दी। उनके निर्णयों में दृढ़ता एवं स्पष्टता को प्राथमिकता मिली थी। उनके बारे में कहा जाता है कि उन्हें बैठक से तब तक किसी का उठना पसंद नहीं था, तब तक संबद्ध बिंदु पर सहमति न बन जाए। उनके विरोधी उन्हें जिद्दी समझते थे, वहीं उनके कई निर्णयों को लेकर विवाद भी उठते रहे। उन पर भारत को अमेरिका एवं इजरायल के जरूरत से ज्यादा करीब ले जाने का आरोप लगा। इन तमाम आलोचनाओं को परे रखकर वे राष्ट्रीय हित में व्यवहारिक फैसले लेते रहे। मिश्रा भारत के उन दुर्लभ अनुभवी रणनीतिकारों में हमेशा गिने जाते रहेंगे, जिन्होंने कठिन दौर में देश की नीतियों को सही दिशा दी।

जूलियो फ्रांसिस रिबैरो *(Julio Francis Ribeiro)*

भारतीय पुलिस सेवा के तेजतर्रार अधिकारी रहे जूलियो फ्रांसिस रिबैरो या जे.एफ. रिबैरो का जन्म मुंबई में पांच मई, 1929 को हुआ। वह 1953 में आईपीएस सेवाओं में शामिल हुये। उनकी सूझबूझ और दूरदर्शिता के कारण उन्हें बहुत सराहना मिली। उन्होंने मुंबई पुलिस आयुक्त के पद पर (1982-87), केंद्रीय रिजर्व पुलिस बल के महानिदेशक और गुजरात के पुलिस महानिदेशक का पद संभाला। मुंबई पुलिस आयुक्त के पद पर रहने के दौरान उन्होंने मुंबई के संगठित अपराध और हिंसा की नकेल कस दी। दंगों के दौरान उनकी भूमिका को बहुत प्रशंसा मिली।

उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यकाल पंजाब पुलिस के प्रमुख के पद का रहा। श्री रिबैरो ने यह पद तब संभाला जब यह राज्य आतंकवाद के सबसे भयंकर दौर से गुजर रहा था। उन्हें पंजाब सरकार का सलाहकार और केंद्र सरकार के गृह मंत्रालय में विशेष सचिव भी बनाया गया। उनकी असाधारण सेवाओं को देखते हुये सरकार ने उन्हें पद्मभूषण सम्मान प्रदान किया। वे रोमानिया में राजदूत भी रहे। उन पर दो बार जानलेवा हमला भी किया जा चुका है। उनकी बनाई नीतियों में सर्वाधिक चर्चित नीति 'बुलेट फॉर बुलेट' (Bullet for Bullet) की रही है। इसी के कारण बाद में एक अन्य आईपीएस अधिकारी के. पी. एस. गिल ने शानदार सफलताएँ अर्जित कीं और पंजाब में दुर्दांत आतंकवादियों को मार गिराया गया।

वर्तमान में श्री रिबैरो सामाजिक कल्याण कार्य में पूरी क्षमता से जुटे हुये हैं। उनकी लिखी आत्मकथात्मक किताब Bullet for Bullet : My Life as a Police Officer को बहुत चाव से पढ़ा जाता है।

किशन पटनायक *(Kishan Patnaik)*

किशन पटनायक देश के समाजवादी चिंतकों में शिखर पर विद्यमान महान प्रतिभाओं में शामिल हैं। 50 वर्षों से ज्यादा समय तक सार्वजनिक जीवन में सक्रिय श्री पटनायक युवावस्था से ही समाजवादी आंदोलन के पूर्णकालिक कार्यकर्ता बन गए थे। वे समाजवादी युवजन सभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष रहे और केवल 32 वर्ष की आयु में 1962 में ओडिशा के संबलपुर से लोकसभा के सदस्य चुने गए। देश में चल रहे समाजवादी आंदोलन से उन्होंने 1969 में दूसरी राह पकड़ी। वह 1972 में लोहिया विचार मंच की स्थापना से जुड़े और बिहार आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई आपातकाल में और उससे पहले 7-8 बार जेल गए। मुख्यधारा की राजनीति के सार्थक विकल्प बनने की तलाश में 1980 में समता संगठन, 1990 में जनआंदोलन समन्वय समिति, 1995 में समाजवादी जन परिषद और 1997 में जनआंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय की स्थापना से जुड़े।

Copyright Akhil Murti

किशन पटनायक मूल रूप से राजनैतिक कार्यकर्ता थे। उन्होंने देश को अनेक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता दिए। भूमंडलीकरण का आजीवन विरोध करने वाले श्री पटनायक ने भ्रष्टाचार की जड़ पर प्रहार किया। उनकी कथनी और करनी में अंतर नहीं था। वे जो कहते थे उसके वास्तविक जीवन में उतारने का पूरा प्रयास करते थे। उनका स्पष्ट मानना था कि सत्ता से अलग रह कर भी राजनीति की जा सकती है। वे राजनीति के लिए दलीय राजनीति को उचित लेकिन अनिवार्य नहीं मानते थे। राजनीति के अलावा वे साहित्य और दर्शन में भी दिलचस्पी रखते थे। साठ के दशक में राममनोहर लोहिया के साथ अंग्रेजी पत्रिका मैनकाइंड के संपादन मंडल में काम किया। इस दौरान प्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका कल्पना में राजनैतिक सामाजिक विषयों और साहित्य पर लेखन के साथ-साथ एक लंबी कविता भी प्रकाशित की। उनके लेख मैनकाइंड, जन, धर्मयुग, रविवार, सेमिनार और अखबारों तथा पत्रिकाओं में छपे। 1977 से मृत्यु पर्यंत तक वे मासिक पत्रिका सामयिक वार्ता के संपादक रहे।

तमाम उम्र वे कट्टरता के खिलाफ लड़े। समाजवादी आंदोलन, किसान आंदोलन और छात्र आंदोलन में उन्होंने बढ़ चढ़कर भागीदारी निभाई। वे उड़िया भाषा में भी बेहतर लिखते थे पर आजीवन उन्होंने हिन्दी की वकालत की। 27 मई, 2004 को उनका निधन हो गया। उनकी किताब 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' को बहुत सराहना मिली है।

बी. डी. शर्मा *(B. D. Sharma)*

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी रहे श्री ब्रह्मदेव शर्मा का जन्म 19 जून, 1931 को उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद में हुआ लेकिन बाद में उनका परिवार ग्वालियर चला गया। वह 1956 में आईएएस के लिए चुने गये। उन्हें मध्य प्रदेश कॉडर मिला। श्री शर्मा 1968 से लेकर 1970 में बस्तर में रहे। इस दौरान उनका ध्यान आदिवासियों की समस्याओं पर गया। वह हाल ही में माओवादियों द्वारा अपहृत सुकमा के जिलाधिकारी एलेक्स पॉल मेनन की रिहाई में वार्ताकार बनाये गये और उन्होंने सफलतापूर्वक अपना काम संपन्न किया।

ब्रह्मदेव शर्मा के प्रति आदिवासियों के इस गहरे लगाव का कारण दरअसल बैलाडीला का वो चर्चित कांड है, जिसमें श्री शर्मा ने 1968-69 में 300 से ज्यादा आदिवासी लड़कियों की शादी उन गैर आदिवासियों से करा दी जो उनके दैहिक शोषण में लिप्त थे। ये वो लोग थे, जो बैलाडीला के लौह अयस्क की खदानों में काम करने आए थे। वह 1973-74 तक केन्द्रीय गृह मंत्रालय में निदेशक बने और फिर संयुक्त सचिव भी बने। लेकिन 1980 में सरकार के साथ बस्तर पाइन प्रोजेक्ट को लेकर नीतिगत मतभेद उभरने के बाद उन्होंने नौकरशाही से इस्तीफा दे दिया।

जनजातीय मामलों पर भारत सरकार की नीतियाँ बनाने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मध्य प्रदेश से इस्तीफे के बाद वे पूर्वोत्तर परिषद के सदस्य बनाए गए। उन्हीं दिनों श्री शर्मा को नॉर्थ ईस्ट हिल्स यूनिवर्सिटी (नेहू) शिलांग के कुलपति का पद संभालने का निर्देश मिला। उनसे पहले इस पद पर नियुक्त रहे कुलपति की आदिवासियों ने हत्या कर दी थी। ऐसे तनावग्रस्त माहौल में उन्होंने यह पद संभालने में हिचकिचाहट नहीं दिखाई। वह 1981 से 1986 तक वहाँ रहे और नेहू को सेंटर ऑफ एक्सीलेंस बनाने का प्रयास किया। वह 1986 से 1991 तक एससी-एसटी आयुक्त के पद पर कार्यरत रहे। इस दौरान उन्होंने वेतन के रूप में केवल एक रूपया लिया। बतौर आयुक्त उन्होंने 28वीं रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपी। यह रिपोर्ट जनजातीय मामलों पर देश का ऐतिहासिक दस्तावेज माना जाता है। कुछ जानकार तो इस रिपोर्ट को भारत के संविधान के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज मानते हैं। उस रिपोर्ट के बाद देश में अनुसूचित जाति-जनजाति आयोग बना। इस प्रकार श्री शर्मा एससी-एसटी विभाग के अंतिम आयुक्त रहे। उन्होंने 1983 में भारतीय जनांदोलन की शुरुआत की और आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन पर हक की लड़ाई शुरू की। आंदोलन को व्यापक सफलता मिली और सरकार ने 'पेसा' कानून का निर्माण किया।

गांधीवादी विचारधारा से प्रेरित श्री शर्मा ने आदिवासियों की समस्याओं पर करीब 100 किताबें लिखी हैं। वे गांव गणराज्य के नाम से पाक्षिक पत्रिका प्रकाशित करते हैं। उनकी 'दलित, पिछड़े झूठे वायदों का अनटूटा इतिहास', 'ट्राइबल डेवलपमेंट' आदि किताबों में आदिवासियों की समस्याएँ और भावनाएँ शिद्दत से महसूस की जा सकती हैं।

ई. श्रीधरन *(E. Sreehdaran)*

इलत्तुवलापिल श्रीधरन या ई. श्रीधरन का जन्म 12 जून, 1932 को केरल के पलाक्कड़ जिले में हुआ। उन्होंने काकीनाड़ा (आंध्र प्रदेश) के गवर्नमेंट इंजीनियरिंग कॉलेज (जेएनटीयूके) से इंजीनियरिंग की पढ़ाई पूरी की और कोझीकोड के गवर्नमेंट पॉलीटेक्निक में अध्यापन का कार्य शुरू किया। बाद में उन्हें इंडियन रेलवे सर्विसेज में चुना गया। उन्हें पहला काम 1954 में सदर्न रेलवे में बतौर परिवीक्षक सहायक इंजीनियर के पद का सौंपा गया।

श्रीधरन ने अपने कॅरियर में कई शानदार उपलब्धियाँ हासिल की हैं। इनमें उनका सबसे प्रशंसनीय कार्य दिल्ली मेट्रो का निर्माण और संचालन शामिल हैं। इस बेहद जटिल कार्य को उत्तम कार्य संस्कृति के साथ समय से पहले ही पूरा करके उन्होंने एक नया इतिहास ही रच दिया है। इसलिए लोगों ने प्यार से उनका नाम ही 'मेट्रो मैन' रख दिया है।

Copyright – Akhil Murti

केवल मेट्रो ही नहीं, रेलवे की कई परियोजनाओं को उन्होंने अतिप्रशंसनीय ढंग से पूरा किया है। दिसम्बर 1964 में तमिलनाडु के पंबन पुल के नष्ट होने जाने पर रेलवे ने इस पुल की मरम्मत के लिए छह महीने का वक्त तय किया। तब श्रीधरन से बड़े अधिकारी ने यह समय घटा कर तीन महीने कर दिया और श्रीधरन को उस काम का इंचार्ज बना दिया। श्रीधरन ने अपनी असाधारण योग्यता ने इसे महज 46 दिन में पूरा कर दिया। इस उपलब्धि के लिए उन्हें 'रेल मंत्री अवार्ड' से सम्मानित किया गया।

1970 में बनी देश की पहली मेट्रो- कोलकाता मेट्रो के निर्माण के समय वह डिप्टी चीफ इंजीनियर के पद थे। उन्होंने कोचिन शिपयार्ड में भी काम किया और सफलता के झंडे गाड़े। वह 1990 में सेवानिवृत्त हो गये। लेकिन उनकी असाधारण नेतृत्व क्षमता को देखते हुये सरकार ने उन्हें महत्वाकांक्षी परियोजना कोंकण रेलवे का मुख्य महाप्रबंधक नियुक्त किया। यह परियोजना भारतीय रेलवे इतिहास की अनोखी परियोजना रही है। कुल 760 किलोमीटर लंबे और 150 से अधिक पुलों वाली इस परियोजना के बेहद कठिन कार्य को उन्होंने संपन्न करके दिखाया।

1997 में उन्हें दिल्ली मेट्रो का प्रबंध निदेशक बनाया गया। राजधानी दिल्ली के परिवहन की रीढ़ साबित होने वाली इस परियोजना के सभी लक्ष्य तय समय पर या उससे पहले की निर्धारित बजट में पूरे करके उन्होंने एक विशिष्ट रिकार्ड बना डाला। उन्हें कोच्चि मेट्रो रेल प्रोजेक्ट का मुख्य सलाहकार बनाया गया है। वह राष्ट्रीय मूल्यों के संरक्षण के फाउंडेशन के सलाहकार बोर्ड में शामिल किये गये हैं। इसमें भारत के पूर्व मुख्य न्यायधीश तक शामिल हैं।

अपनी अमूल्य सेवाओं के लिए श्रीधरन कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मानों से सम्मानित किए जा चुके हैं। 2003 में 'टाइम मैगजीन' ने उन्हें 'वन ऑफ एशियाज हीरोज' के खिताब से नवाजा। फ्रांस सरकार ने उन्हें 2005 में 'नाइट ऑफ द लीजन ऑफ ऑनर' से सम्मानित किया, वहीं भारत सरकार ने उन्हें 2001 में 'पद्मश्री' तथा 2008 में दूसरा सबसे बड़ा नागरिक सम्मान 'पद्मभूषण' प्रदान किया। श्रीधरन ने सरकार से कई बार रिटायरमेंट देने के लिए आग्रह किया, लेकिन सरकार उन जैसे 'जीनियस' की सेवाओं से महरूम नहीं होना चाहती थी, लिहाजा उनकी रिटायरमेंट टलती रही। लेकिन उनकी उम्र को देखते हुए सरकार ने उनके रिटायरमेंट को स्वीकृति दे दी है और वह 31 दिसंबर, 2011 को सेवानिवृत्त हो गये। उन्हें 2013 में लोकमान्य तिलक पुरस्कार के लिए चुना गया है। पारदर्शिता, कार्यक्षमता, जवाबदेही, समय के पाबंदी, ईमानदारी, पेशेवर योग्यता, स्पष्ट सोच और दृष्टि और सभी घटकों की भागीदारी उनकी सफलताओं के मुख्य सूत्र माने गये हैं।

टी. एन. शेषन *(T. N. Sheshan)*

टी. एन. शेषन का पूरा नाम 'तिरुनेल्लै नारायण अय्यर शेषन' है। उनका जन्म 15 मई, 1933 को पालघाट (केरल) के निम्न मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। वे भारत के दसवें 'मुख्य चुनाव आयुक्त' रहे। शेषन ने अपनी गम्भीरता, निष्पक्षता और सख्ती से भारत में होने वाले चुनावों को शांतिपूर्वक सम्पन्न कराने में मुख्य योगदान दिया है। मुख्य चुनाव आयुक्त के रूप में उनका कार्यकाल 12 दिसम्बर, 1990 से 11 दिसम्बर, 1911 तक रहा। उनके कार्यकाल में स्वच्छ एवं निष्पक्ष चुनाव संपन्न कराने के लिए नियमों का कड़ाई से पालन किया गया।

उन्होंने अपनी स्नातक की परीक्षा मद्रास के 'क्रिश्चियन कॉलेज' से उत्तीर्ण की थी। यहीं पर उन्होंने कुछ समय तक एक व्याख्यात के रूप में भी कार्य किया। बाद में वे 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' (आई.ए.एस.) के लिए चुने गए और 1955 से इस क्षेत्र में कार्य शुरू किया। प्रारम्भ से ही टी. एन. शेषन की छवि एक निर्भीक, सख्त तथा ईमानदार प्रशासक की रही। इस कार्यशैली के कारण उन्हें बहुत कठिनाईयों का भी सामना करना पड़ा, लेकिन न तो उन्होंने अपनी राह बदली और न ही निराशा को अपने मन में घर करने दिया। 1990 में टी. एन. शेषन भारत के मुख्य चुनाव आयुक्त बनाये गये। इस पद पर वे 1996 तक बने रहें। इस दौरान शेषन ने स्वतंत्र तथा निष्पक्ष चुनाव कराने की दिशा में बहुत-से सुधार चुनाव-प्रक्रिया में किए। उन्होंने मतदाता सशक्तीकरण, चुनाव-प्रक्रिया में सुधार तथा व्यवस्था की धर्मनिरपेक्ष छवि, इन दिशाओं में काम शुरू किया। देश के प्रत्येक वयस्क नागरिक के लिए 'मतदाता पहचान-पत्र' उन्हीं की पहल का नतीजा था, तथा राजनीतिक दलों के खर्च पर अंकुश लगाना आदि उनके महत्त्वपूर्ण कदम थे, जिन्हें शेषन ने पूरी ईमानदारी से लागू करने की पहल की।

मुख्य चुनाव आयुक्त के पद से मुक्त होने के बाद टी. एन. शेषन ने 'देशभक्त ट्रस्ट' भी बनाया। उन्होंने वर्ष 1997 में राष्ट्रपति पदक का चुनाव भी लड़ा, लेकिन इस चुनाव में वे के. आर. नारायणन से पराजित हो गए। इसके दो वर्ष बाद देश की प्रमुख पार्टी में से एक कांग्रेस के टिकट पर उन्होंने लालकृष्ण आडवाणी के खिलाफ चुनाव लड़ा, लेकिन उन्हें पराजय का सामना करना पड़ा। टी. एन. शेषन को उनकी दस दायित्वपूर्ण दृढ़ता तथा कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए राजकीय सेवा श्रेणी में 1996 का 'मैग्सेसे पुरस्कार' प्रदान किया गया।

अनिल बोर्डिया *(Anil Bordia)*

आईएएस अधिकारी और सामाजिक क्षेत्रों में अपने योगदान के लिए जाने गये अनिल बोर्डिया का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्यक्षेत्र शिक्षा का रहा है। उन्हें शिक्षा के क्षेत्र में आने वाली समस्याओं और उनके समाधान के प्रयासों की गहरी जानकारी थी और इसलिए उन्हें शिक्षा शास्त्री (Educatoinist) तक कहा गया है। उनका 3 सितम्बर, 2012 को 78 वर्ष की आयु में निधन हो गया।

Copyright Akhil Murti

5 मई, 1934 को इंदौर में जन्मे श्री बोर्डिया ने उदयपुर और नई दिल्ली में शिक्षा हासिल की। वह 1957 में भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए चुने गये। वह 1986 में बनी राष्ट्रीय शिक्षा नीति में सक्रिय रूप से शामिल रहे। उनकी प्रशासनिक दक्षता और सूझबूझ को देखते हुये सरकार ने उन्हें केंद्रीय शिक्षा सचिव (1987-1992) का पदभार सौंपा गया। उन्होंने राजस्थान और बिहार में प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण में अग्रणी भूमिका का निर्वाह किया। शिक्षा के क्षेत्र में उनके अविस्मरणीय काम को देखते हुये सरकार ने उन्हें 2010 में पद्म भूषण से सम्मानित किया। 1999 में यूनेस्को ने उन्हें शिक्षा प्रसार में महती योगदान का सम्मान करते हुये स्वर्ण पदक से नवाजा। वह यूनेस्को के एशिया-पैसेफिक सेंट एजूकेशनल इनोवेशन फॉर डेवलपमेंट, बैंकाक के फैलो भी रहे।

श्री बोर्डिया के नेतृत्व में बनी शिक्षा के अधिकार (Right to Education – RTE) संबंधी समिति की सबसे बड़ी देन 'सर्व शिक्षा अभियान' को मजबूत बनाने से संबंधित दृष्टिकोण, रणनीति और मानदंडों को संगत बनाना है। केंद्रीय शिक्षा सचिव के पद से सेवानिवृत्ति के बाद श्री बोर्डिया ने राजस्थान में किशोरियों-किशोरों की वैकल्पिक शिक्षा के एक सामाजिक कार्यक्रम 'लोक-जुम्बिश' की शुरुआत की। सन् 2001 में उन्होंने एक नये सामाजिक कार्यक्रम-'दूसरा दशक' शुरु किया। यह कार्यक्रम युवाओं के विकास और शिक्षा के प्रसार पर केंद्रित था।

जब वे राजस्थान में उद्योग निदेशक के पद पर थे तो एक हजार गृह उद्योग परियोजना की शुरुआत की गई थी। यह परियोजना शहरी क्षेत्र में रहने वाली गरीब और निम्न मध्यवर्गीय महिलाओं को आर्थिक रूप से सबल बनाने के उद्देश्य से शुरू की गई थी। श्री बोर्डिया जहाँ-जहाँ नियुक्त रहे उन्होंने प्रौढ़ समितियों की स्थापना की। बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, भीलवाड़ा, जयपुर एवं राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति तथा राज्य संदर्भ केंद्र की स्थापना उन्हीं के मानस की उपज हैं। शिक्षा में भी उनकी दृष्टि बालिका शिक्षा और औरतों की शिक्षा पर ज्यादातर केंद्रित रही। शिक्षाकर्मी परियोजना में गाँव की महिलाओं को शिक्षक के रूप में खड़ा करना अपने आप में चुनौतीपूर्ण काम था। शिक्षा के साथ महिलाओं का सशक्त होना और विकास में बराबर की भागीदारी एवं अत्याचार के विरोध में संगठित होने की जरूरत का विचार 1983-84 में उनके मन में आया और "महिला विकास कार्यक्रम" के नाम से एक अनूठा कार्यक्रम राजस्थान में शुरू किया। उन्होंने शिक्षकों के कार्य संबंधी विसंगतियों को दूर करने के भी भगीरथ प्रयास किये।

श्री बोर्डिया ने राजस्थान में ही स्वयंसेवी संस्थाओं को बढ़ावा नहीं दिया बल्कि देश के अनेक राज्यों में भी उनका योगदान रहा। उनके इस अनूठे प्रयोग को देश के अन्य राज्यों में महिला समाख्या कार्यक्रम के नाम से शुरू किया गया। वह जहाँ भी रहे शिक्षा में नवाचार, लोक भागीदारी, बालिका शिक्षा, महिला सशक्तिकरण से सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं के माध्यम से लगातार करते रहे। शिक्षा में गुणवत्ता हो, बालिकाएँ और महिलाएँ शिक्षा के माध्यम से सशक्त बनें यह उनकी ताउम्र कोशिश रही। इसीलिए जब 1997 में विशाखा फैसला आया तो "लोक जुम्बिश परिषद" देश की उन पहली संस्थाओं में शामिल थी जिसने 1998 में कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न एवं जेंडर संवेदनशीलता हेतु दिशा निर्देश लिए तैयार किए।

के. पी. एस. गिल *(Kanwar Pal Singh Gil)*

1934-35 में पंजाब के लुधियाना में जन्मे कुंवर पाल सिंह गिल भारतीय पुलिस सेवा में शामिल हुये। चयन के बाद वे भारत के पूर्वोत्तर राज्यों असम और मेघालय में कई महत्वपूर्ण पदों पर 28 साल तक रहे। वह असम के पुलिस महानिदेशक भी रहे।

जब पंजाब में आतंकवाद अपने चरम पर था तब उन्हें पंजाब बुलाया गया और 1988 में पंजाब पुलिस के महानिदेशक के रूप में कानून-व्यवस्था की बागडोर श्री गिल को सौंप दी गई। वह किसी राज्य के दो बार डीजीपी बनने का सम्मान हासिल करने वाले दुर्लभ लोगों में शामिल हैं। वह पहली बार 1988 से 1990 और 1991 से 1996 तक इस पद पर सुशोभित रहे। उनकी रणनीतिक कुशलता और अभियानों से धीरे-धीरे पंजाब में आतंकवाद दम तोड़ने लगा। इन महत्वपूर्ण अभियानों में 'ऑपरेशन ब्लैक थंडर' का नाम लिया जा सकता है, जिसके चलते आतंकवादियों को स्वर्ण मंदिर में ही अपने हथियार डालने पड़े थे। ऑपरेशन ब्लू स्टार के बाद स्वर्ण मंदिर से आतंकवादियों को बाहर निकालने की यह सबसे बड़ी कार्रवाई थी और इसे बहुत कम नुकसान के साथ सफल बनाया गया। उन्होंने आतंकवादियों की सूचना देने और उन्हें मुठभेड़ में मार गिराने पर मिलने वाली राशि को बढ़ा दिया। इसके कई आश्चर्यजनक परिणाम देखने को मिले।

कई मानवाधिकार संगठनों जैसे ह्यूमन राइट वाच और एमनेस्टी इंटरनेशनल ने उनकी कार्यशैली पर आरोप लगाये और शिकायत करते हुये कहा कि उन्होंने काम करते समय मानवाधिकारों का ध्यान नहीं रखा। न्यूयॉर्क टाइम्स अखबार ने लिखा कि पंजाब के लोग आतंकवादियों से नहीं डरते लेकिन अब पुलिस वालों से खौफ खाते हैं।

सेवानिवृत्त होने के बाद वे हॉकी फेडरेशन ऑफ इंडिया के प्रमुख बने। वह 'इंस्टीट्यूट फॉर कॉनफ्लिक्ट एण्ड रिजोल्यूशन' के अध्यक्ष होने के अलावा राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार परिषद् में भी शामिल किये गये। सेवानिवृत्ति के बाद वह लेखन के क्षेत्र में उतरे। आतंकवाद पर प्रकाशित विभिन्न पुस्तकों में श्री गिल के लेख संकलित हैं। इसके अलावा समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में भी उनके लेख प्रकाशित होते रहते हैं। पंजाब में आतंकवाद पर 1997 में प्रकाशित उनकी पुस्तक ''द नाइट्स आफ फाल्सहुड' काफी चर्चा में रही।

Copyright – Akhil Murti

ज्योतिन्द्र नाथ दीक्षित *(Jyotindra Nath Dixit)*

देश के चोटी के विदेश कूटनीतिज्ञों में शामिल ज्योतिन्द्र नाथ दीक्षित या जे एन दीक्षित का जन्म मद्रास में हुआ था। उनके पिता प्रसिद्ध मलयाली लेखक मुंशी परमू पिल्लई और मां रत्नामई देवी था। रत्नामाई देवी की बाद में स्वतंत्रता सेनानी और पत्रकार सीताराम दीक्षित से विवाह होने के बाद 'दीक्षित' उपनाम ग्रहण किया गया। सन 1952 में दिल्ली विश्वविद्यालय के जाकिर हुसेन कॉलेज से बीए और बाद में जेएनयू से एम ए की पढ़ाई की। वह 1958 में भारतीय विदेश सेवा में शामिल किये गये।

जे एन दीक्षित को बांग्लादेश में पहले भारतीय उच्चायुक्त बनने का अवसर मिला। वह वियना, टोक्यो और वाशिंटन के अलावा चिली, मेक्सिको, जापान, आस्ट्रेलिया, अफगानिस्तान, भूटान, श्रीलंका, पाकिस्तान में भी पदस्थापित रहे। वह 1991 से 1994 तक विदेश सचिव भी रहे। दीक्षित ने यूएन, यूनिडो, यूनेस्को, आईएलओ और नाम (NAM) के लिए काम भी किया और अपनी छाप इन संगठनों पर छोड़ी। वह पहले राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहाकार बोर्ड के सदस्य भी रहे। उन्होंने कई किताबें भी लिखीं। वे मैंचेस्टर, ऑक्सफोर्ड, मेलबर्न, लंदन सहित कई अन्य पश्चिमी विश्वविद्यालयों में भी अक्सर व्याख्यान देने जाया करते थे। दीक्षित कांग्रेस पार्टी में विदेश मामलों की इकाई के उपाध्यक्ष रहे। 2004 के आमचुनाव से पहले विदेश, सुरक्षा और रक्षा मामलों पर उन्होंने कांग्रेस का एजेंडा या घोषणा-पत्र तैयार करने में अहम भूमिका निभाई थी।

वह 2004 में राष्ट्रीय सुरक्षा सलाकार बने। सेवानिवृत्ति के बाद उन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में विदेशी मामलों पर कई लेख लिखे। उन्हें 2005 में पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया।

एन. एन. वोहरा *(Narinder Nath Vohra)*

पंजाब विश्वविद्यालय और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से अध्ययन करने वाले नरिंदर नाथ वोहरा या एन एन वोहरा ने एम ए अंग्रेजी में टॉप किया और फिर पंजाब विश्वविद्यालय में 1956-59 तक पढ़ाया। उन्होंने भारतीय प्रशासनिक सेवा में 1959 में प्रवेश किया और 1994 तक एक शानदार कॅरियर का उदाहरण प्रस्तुत किया। सिख आतंकवादियों के खिलाफ चले ऑपरेशन ब्लू स्टार के बाद उन्हें केंद्र में लाया गया। 1985 में पंजाब में हुये शांतिपूर्ण विधानसभा चुनावों का एक श्रेय उन्हें भी जाता है। वह 1993 के मुंबई बम विस्फोट कांड के बाद केंद्रीय गृहसचिव बने। वोहरा को वर्ष 1997-98 में प्रधानमंत्री इंद्र कुमार गुजराल का प्रमुख सचिव नियुक्त किया गया। श्री गुजराल के कार्यकाल में बनी 'पूर्व की ओर देखो' नीति के संबंध में उनकी महती भूमिका रही। श्री वोहरा की सर्वाधिक चर्चा राजनीतिज्ञों और अपराधियों के बीच बने गठजोड़ की जाँच करने के लिए बनी रिपोर्ट के लिए होती है. 1993 में बतौर गृहसचिव उन्होंने इस समिति की अध्यक्षता की। इस रिपोर्ट को उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री पी वी नरसिम्हा राव को सौंपा। देश में अपराध और राजनीतिज्ञों के बीच बने गठजोड़ की जाँच की वह सबसे महत्वपूर्ण रिपोर्ट मानी जाती है। वह वर्ष 1999 से लेकर 2001 के बीच प्रतिष्ठित इंस्टीट्यूट ऑफ डिफेंस स्टडीज एंड एनालिसिस के अध्ययन सहित कई संस्थानों के प्रमुख रहे। वह 2001-2002 तक मिलिटरी हिस्ट्री रिव्यू कमेटी के चेयरमैन भी रहे। वोहरा को केंद्रीय विश्वविद्यालय जम्मू का पाँच वर्ष के लिए पहला चांसलर भी नियुक्त किया गया।

श्री वोहरा को उनकी सेवाओं के लिए पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया है। श्री वोहरा जम्मू कश्मीर मामले के विशेषज्ञ रहे हैं। उनकी यह दक्षता को ध्यान में रखकर उन्हें जम्मू कश्मीर का राज्यपाल ऐसे समय में बनाया गया जब अमरनाथ श्राइन का मामला बहुत ज्वलंत बना हुआ था। उनका पहला कार्यकाल समाप्त होने से पहले ही उन्हें पुन: यह दायित्व सौंप दिया गया। यह सरकार की उनकी दक्षता पर विश्वास का प्रतीक है।

अरुणा रॉय *(Aruna Roy)*

भारतीय प्रशासनिक सेवा की अधिकारी रहीं अरुणा रॉय देश की महत्त्वपूर्ण राजनैतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता हैं। वह 1968 में भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए चुनीं गईं लेकिन 1974 में उन्होंने इस सेवा से त्यागपत्र दे दिया और पूरी तरह से समाज कल्याण के कार्य में जुट गईं। वर्ष 2004 में उन्हें राष्ट्रीय सलाहकार परिषद के सदस्य के रूप में मनोनीत किया गया।

वे राजस्थान के निर्धन लोगों के जीवन को बेहतर बनाने के लिये किये गये प्रयास के लिये विशेष रूप से जानी जाती हैं। भारत में सूचना का अधिकार लागू करने के लिये उनके प्रयत्न एवं योगदान उल्लेखनीय हैं। वे मेवाड़ के राजसमन्द जिले में स्थित देवडूंगरी गाँव से सम्पूर्ण देश में संचालित मज़दूर-किसान शक्ति संगठन की संस्थापिका एवं अध्यक्ष भी हैं। उनके योगदान के लिये उन्हें मैगसेसे पुरस्कार एवं मेवाड़ सेवाश्री आदि पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। उन्होंने 'मजदूर-किसान शक्ति संगठन' नामक सामाजिक संगठन की स्थापना की है।

किरण बेदी *(Kiran Bedi)*

डॉ. किरण बेदी भारतीय पुलिस सेवा की प्रथम महिला अधिकारी हैं। उन्होंने विभिन्न पदों पर रहते हुए अपनी कार्य-कुशलता का परिचय दिया है। वे संयुक्त आयुक्त पुलिस प्रशिक्षण तथा दिल्ली पुलिस स्पेशल आयुक्त (खुफिया) के पद पर कार्य कर चुकी हैं।

Copyright Akhil Murti

उनका जन्म 9 जून, 1949 को अमृतसर में हुआ था। किरण को बचपन में टेनिस बहुत पसंद था और टेनिस की खिलाड़ी भी रही थी। अपनी बहनों के साथ उन्होंने इस खेल में कई खिताब भी हासिल किए। उस दौर में किरण बेदी और उनकी बहनों को 'पेशावर बहनों' (शादी के पहले पेशावरियां उनका उपनाम था) के नाम से जाना जाता था। किरण ऑल इंडिया और ऑल एशियन टेनिस चैंपियनशिप की विजेता भी रहीं। वर्ष 1972 में किरण बेदी ने भारतीय पुलिस सेवा में चुने जाने के बाद नौकरी करते हुए भी अपनी पढ़ाई जारी रखी और सन् 1988 में दिल्ली विश्वविद्यालय से कानून में स्नातक की उपाधि हासिल की। किरण बेदी ने राष्ट्रीय तकनीकी संस्थान, नई दिल्ली से 1993 में सामाजिक विज्ञान में 'नशाखोरी तथा घरेलू हिंसा' विषय पर उनके शोध पर पी.एच.डी. की डिग्री हासिल की।

भारतीय पुलिस सेवा में पुलिस महानिदेशक (ब्यूरो ऑफ पुलिस रिसर्च एंड डेवलपमेंट) के पद पर पहुँचने वाली किरण एकमात्र भारतीय महिला थीं, जिसे यह गौरव हासिल हुआ। किरण बेदी ने दिल्ली ट्रैफिक पुलिस चीफ, नारकोटिक्स कंट्रोल ब्यूरो, डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस, मिजोरम, इंस्पेक्टर जनरल ऑफ प्रिंजन, तिहाड़, चंडीगढ़ गवर्नर की सलाहकार, नारकोटिक्स कंट्रोल ब्यूरो में डीआईजी तथा यूनाइटेड नेशन्स में एक असाइनमेंट पर भी कार्य कर चुकी हैं।

अपने कार्यकाल के दौरान और कार्यकाल के पश्चात भी किरण बेदी ने कई उल्लेखनीय कार्य किए जिनके जरिए उन्हें प्रसिद्धि मिली। दिल्ली में पुलिस आयुक्त के अपने कार्यकाल में उन्होंने तलवारें लहराती भीड़ का अकेले ही सामना करके देश भर में यह संदेश दे दिया था कि किसी ईमानदार अधिकारी को भीड़ और गुंडा तंत्र के दम पर नहीं डराया जा सकता। दिल्ली स्थित भारत की सबसे बड़ी जेल तिहाड़ में तैनाती के समय सुधारात्मक कदम उठाते हुए किरण बेदी ने अपनी एक अलग पहचान बना ली थी। जब किरण बेदी को 7,200 कैदियों वाली तिहाड़ जेल की महानिरीक्षक बनाया गया तो उन्होंने वहाँ एक नया मिशन चलाया। इसके अंतर्गत उन्होंने कैदियों के प्रति 'सुधारात्मक रवैया' अपनाते हुए उन्हें योग, ध्यान, शिक्षा व संस्कारों की शिक्षा देकर जेलों में बंद कैदियों की जिंदगी में सुधार लाने का प्रयास किया। जब किरण नई दिल्ली की ट्रैफिक कमिश्नर बनीं तब उनके तीखे तेवरों के कारण लोगों ने उन्हें किरण बेदी की जगह क्रैन बेदी कहना शुरू कर दिया था। प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने सार्वजनिक रूप से किरण बेदी की प्रशंसा में कहा था कि इस देश को आज किरण बेदी जैसे अधिकारियों की जरुरत है जो सही को सही तरीके से करने का साहस कर सके।

26 दिसंबर, 2007 को उन्होंने पुलिस सेवा से स्वैच्छिक सेवानिवृत्त ली। उस समय वे भारतीय पुलिस अनुसंधान एवं विकास ब्यूरो के महानिदेशक पद पर थीं। किरण बेदी को उनकी उल्लेखनीय सेवाओं के कई राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। इनमें प्रेसीडेंट गेलेंट्री अवार्ड (1979), सन् 1994 में एशिया का नोबेल पुरस्कार कहा जाने वाला 'रमन मैग्सेसे पुरस्कार' प्रमुख हैं। उनके जीवन पर बने वृत्तचित्र 'यस मैडम, सर' को भी कई पुरस्कार मिले हैं। सन् 1987 में किरण बेदी ने नवज्योति तथा 1994 में इंडिया विजन फाउंडेशन नामक संस्थानों की शुरुआत की। इनके माध्यम से उन्होंने नशाखोरी पर अंकुश लगाने तथा गरीब व जरूरतमंद लोगों की मदद करने जैसे काम शुरू किए। ये संस्थाएँ रोजाना हजारों गरीब बेसहारा बच्चों तक पहुँचकर उन्हें प्राथमिक शिक्षा तथा स्त्रियों को प्रौढ़ शिक्षा उपलब्ध कराती हैं।

हर्ष मंदर *(Harsh Mander)*

भारतीय प्रशासनिक सेवा के पूर्व अधिकारी हर्ष मंदर की ख्याति सामाजिक कार्यकर्ता और लेखक होने से भी है। आईएएस सेवा में रहने के दौरान वह करीब दो दशक तक मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में नियुक्त रहे। श्री मंदर सूचना के अधिकार के लिए चले आंदोलन के अगुआ लोगों में शामिल रहे हैं।

उनका मुख्य काम सामूहिक हिंसा और भूख के शिकार लोगों की मदद करने से जुड़ा है। वह वर्तमान में सेंटर फॉर इक्विटी स्टडीज (Centre for Equity Studies) के निदेशक हैं। उन्हें सर्वोच्च न्यायालय ने भोजन के अधिकार मामले में विशेष आयुक्त भी नियुक्त किया है। श्री मंदर विभिन्न सामाजिक मुद्दों और आंदोलनों से जुड़े हुये हैं और उनके सांप्रदायिक सद्भाव, आदिवासी, दलितों और विकलांगों के अधिकारों, सूचना के अधिकार, हिरासत संबंधी मामलों में न्याय, बेघरों और बंधुआ मजदूरों पर दिये भाषणों एवं लेखों को ध्यान से पढ़ा जाता है। वह मानवाधिकार आयोग की एक समिति के सदस्य। एक्शन-एड इंडिया के कंट्री निदेशक, स्टेट हेल्थ रिर्सोस सेंटर- छत्तीसगढ़ के संस्थापक अध्यक्ष होने के अलावा कई सामाजिक संगठनों से जुड़े रहे हैं। श्री मंदर राष्ट्रीय सलाहकार परिषद में भी शामिल किये गये हैं। परिषद में उन्होंने भोजन के अधिकार, भू-अधिग्रहण और पुनर्वास विधेयक, बाल बंधुआ मजदूर उन्मूलन, शहरी गरीबी और बेघर, फेरी वालों के अधिकार आदि महत्त्वपूर्ण मसलों पर काम किया।

श्री मंदर ने कई सामाजिक कार्यक्रम शुरू किये हैं। इनमें धर्मनिरपेक्षता, शांति और न्याय के लिए 'अमन-बिरादरी' सांप्रदायिक हिंसा के शिकार लोगों के लिए 'न्यायग्रह', फुटपाथ पर रहने वाले बच्चों के लिए 'दिल से', शहरी बेघरों के लिए 'हौसला' अभियान शामिल हैं। वह बतौर शिक्षक भी आईआईएम-अहमदाबाद, सेंट स्टीफेन्स कॉलेज, नई दिल्ली आदि अनेक भारतीय एवं विदेशी संस्थाओं से जुड़े हुये हैं।

Copyright – Akhil Murti

श्री मंदर की लिखित किताबें Heard Voices: Stories of Forgotten Lives', 'The Ripped Chest: Public Policy and the Poor in India', 'Fear and Forgiveness: The Aftermath of Massacre', 'Fractured Freedom: Chronicles from India's Margins', 'Untouchability in Rural India' (सहलेखक), तथा हाल ही में आई 'Ash in the Belly: India's Unfinished Battle against Hunger' काफी चर्चा में रही हैं। वह कई अखबारों में नियमित रूप से स्तंभ भी लिखते रहे हैं। श्री मंदर को **'राजीव गांधी राष्ट्रीय सद्भावना अवार्ड'** प्रदान किया गया है।

कल्पना चावला *(Kalpana Chawla)*

कल्पना चावला का जन्म 1 जुलाई, 1961 ई. को हरियाणा के करनाल जिले में हुआ था। कल्पना चावला अंतरिक्ष में जाने वाली प्रथम भारतीय (बाद में उन्होंने अमेरिका की नागरिकता ले ली थी) महिला थी।

प्रफुल्ल स्वभाव तथा बढ़ते अनुभव के साथ कल्पना न तो काम करने में आलसी थी और न असफलता में घबराने वाली थी। धीरे-धीरे निश्चयपूर्वक युवती कल्पना ने स्त्री-पुरुष के भेद-भाव से ऊपर उठ कर काम किया तथा कक्षा में अकेली छात्रा होने पर भी उन्होंने अपनी अलग छाप छोड़ी। उन्हें अंतरिक्ष और उड़ान के बारे में पढ़ने में बहुत आनन्द आता था। वे अपने पिता के साथ करनाल के फ्लाइंग क्लब जाती थीं और विमानों को उड़ता देख अपने पिता से कई सवाल करती थीं। वहीं से उनमें एरोस्पेस इंजीनियरिंग में रुचि उत्पन्न होने लगी। इसका प्रमाण यह है कि जब कोई उनसे पूछता था कि बड़े होकर क्या बनोगी तो वे हमेशा यही उत्तर देतीं एरोस्पेस इंजीनियर उन्हें पंजाब कॉलेज में एरोस्पेस इंजीनियरिंग में जगह मिली। उनके जीवन में अध्यापकों और किताबों से प्रेरणा मिली। कल्पना चावला ने 1976 में करनाल के टैगोर स्कूल से स्नातक, 1982 में चंडीगढ़ से एरोनॉटिकल इंजीनियरिंग तथा 1984 में टेक्सास विश्वविद्यालय से 'एरोस्पेस इंजीनियरिंग' की पढ़ाई की। उन्होंने 1988 में कोलेरेडो विश्वविद्यालय से डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी की डिग्री प्राप्त की। इसी वर्ष कल्पना ने नासा के **एम्स रिसर्च सेंटर** में काम करना शुरू किया।

1994 में बतौर अंतरिक्ष यात्री उनका चयन किया गया। कल्पना की पहली अंतरिक्ष उड़ान एस. टी. एस. 87 कोलंबिया स्पेस शटल से संपन्न हुई तथा इसकी अवधि 19 नवंबर से 5 दिसंबर, 1997 थी। कल्पना की दूसरी और अंतिम उड़ान 16 जनवरी, 2003 को कोलंबिया स्पेस शटल से ही आरंभ हुई। यह 16 दिन का मिशन था। उन्होंने अपने सहयोगियों सहित लगभग 80 परीक्षण और प्रयोग किए। वापसी के समय 1 फरवरी 2003 को शटल दुर्घटना ग्रस्त हो गई तथा कल्पना समेत 6 अंतरिक्ष यात्रियों की मृत्यु हो गई। उन्हें मृत्युपरांत कांग्रेशनल अंतरिक्ष पदक के सम्मान, नासा अंतरिक्ष उड़ान पदक, नासा विशिष्ट सेवा पदक और प्रतिरक्षा विशिष्ट सेवा पदक आदि सम्मानों से सम्मानित किया गया।

मंजू राजपाल *(Manju Rajpal)*

भारतीय प्रशासनिक सेवा में कार्यरत मंजू राजपाल का जन्म राजस्थान में एक जून1972 को हुआ। उनकी मातृभाषा सिंधी है। देश के दलित समुदाय से संबंध रखने वाली चुनींदा महिला आईएएस अधिकारियों में शामिल मंजू राजपाल को उनके हौसलों, प्रतिबद्धता और कार्य के प्रति समर्पण के लिए जाना जाता है।

वर्ष 2000 के सिविल सेवा बैच की महिला वर्ग में टॉपर और कुल छठी रैंक हासिल करने वाली राजपाल को राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना को बहुत उचित ढंग से लागू करने के कार्यों की वजह से साल 2006 में सर्वश्रेष्ठ जिलाधिकारी का सम्मान प्रदान किया गया। लेकिन उनका शुरुआती जीवन बहुत कठिनाई भरा था। उनके पिता एक साधारण कारोबारी थे। राजपाल का परिवार परंपराओं में विश्वास करने वाला परिवार था। उनकी दो बहनें और होने के कारण पढ़ाई पर खर्च बहुत कम हो पाता था। लेकिन मंजू के दृढ़ इरादे कुछ और ही कहानी कहने जा रहे थे। सिविल सेवा में आने पर मंजू राजपाल को प्रशिक्षण समाप्ति के बाद बूंदी जिले की नैनवा तहसील में एसडीएम के पद पर नियुक्ति दी गई। सामान्य तौर पर यह नियम है कि इस पद पर राजस्थान लोकसेवा आयोग से चयनित आरएएस अधिकारी नियुक्त किया जाता है। यहाँ एसडीएम पद पर आने वाली वह पहली आईएएस थीं। यहाँ उन्होंने अपना काम इतने अधिक उत्साह से किया कि लोगों को अचंभा होने लगा कि प्रशासन के काम करने की रफ्तार इतनी अधिक भी हो सकती है। यहाँ तक कि कुछ अधिकारियों को उनकी शैली पसंद नहीं आई और उन्हें चेतावनी तक दे दी गई। बाद में वरिष्ठ अधिकारियों ने पाया कि मंजू का पक्ष सही था।

डूंगरपुर में जिलाधिकारी के पद पर कार्य करते हुये राजपाल ने मानवता की एक नई मिसाल कायम कर दी। उन्होंने तीन लड़कियों को वैधानिक तरीके से गोद ले लिया है। इनमें से एक तो उनके गोद लेने से कुछ ही महीने पहले पैदा हुई थी।

Copyright - Akhil Murti

रैदास *(Raidas)*

मध्ययुगीन संतों में रैदास या रविदास का महत्वपूर्ण स्थान है। रैदास के जन्म के संबंध में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनका समय संभवतया 1398 से 1518 ई. के आस-पास का रहा है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि वह कबीर के समकालीन रहे होंगे। संत रविदास काशी के रहने वाले थे। किंवदंती है कि वह रामानन्द के शिष्य थे। परंतु किसी भी स्रोत से रैदास का रामानन्द का शिष्य होना सिद्ध नहीं होता। इनके अतिरिक्त रैदास की कबीर से भी भेंट की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। परंतु उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। नाभादास कृत 'भक्तमाल' में रैदास के स्वभाव और उनकी चारित्रिक उच्चता का प्रतिपादन मिलता है। प्रियादास कृत 'भक्तकाल' की टीका के अनुसार चित्तौड़ की 'झालारानी' उनकी शिष्या थीं, जो महाराणा सांगा की पत्नी थीं। इस दृष्टि से रैदास का समय सन् 1482-1527 ई. होता है। कुछ लोगों का अनुमान कि यह चित्तौड़ की रानी मीराबाई ही थीं और उन्होंने रैदास का शिष्यत्व ग्रहण किया था। मीरा ने अपने अनेक पदों में रैदास का गुरु रूप में स्मरण किया है। रैदास ने अपने पूर्ववर्ती और समसामयिक भक्तों के सम्बन्ध में लिखा है। उनके निर्देश से ज्ञात होता है कि कबीर की मृत्यु उनके सामने ही हो गयी थी। रैदास की अवस्था 120 वर्ष की मानी जाती है।

उनके पिता का नाम 'रग्घु' और माता का नाम 'घुरविनियां' बताया जाता है। रैदास ने साधु-सन्तों की संगति से पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। जूते बनाने का काम उनका पैतृक व्यवसाय था और उन्होंने इसे सहर्ष अपनाया। वह अपना काम पूरी लगन तथा परिश्रम से करते थे और समय से काम को पूरा करने पर बहुत ध्यान देते थे। उनकी समयानुपालन की प्रवृत्ति तथा मधुर व्यवहार के कारण उनके सम्पर्क में आने वाले लोग भी बहुत प्रसन्न रहते थे।

प्रारम्भ में ही रैदास बहुत परोपकारी तथा दयालु थे और दूसरों की सहायता करना उनका स्वभाव बन गया था। साधु-सन्तों की सहायता करने में उनको विशेष सुख का अनुभव होता था। वह उन्हें प्राय: मूल्य लिये बिना जूते भेंट कर दिया करते थे। उनके स्वभाव के कारण उनके माता-पिता उनसे प्रसन्न रहते थे। कुछ समय बाद उन्होंने रैदास तथा उनकी पत्नी को अपने घर से अलग कर दिया। रैदास पड़ोस में ही अपने लिए एक अलग झोपड़ी बनाकर तत्परता से अपने व्यवसाय का काम करते थे और शेष समय ईश्वर-भजन तथा साधु-सन्तों के सत्संग में व्यतीत करते थे। कहते हैं, ये अनपढ़ थे, किंतु संत-साहित्य के ग्रंथों और गुरु ग्रंथ साहिब में इनके पद पाए जाते हैं।

रैदास ने ऊँच-नीच की भावना तथा ईश्वर-भक्ति के नाम पर किये जाने वाले विवाद को सारहीन तथा निरर्थक बताया और सबको परस्पर मिल जुल कर प्रेमपूर्वक रहने का उपदेश दिया। वे स्वयं मधुर तथा भक्तिपूर्ण भजनों की रचना करते थे और उन्हें भाव-विभोर होकर सुनाते थे। उनका विश्वास था कि राम, कृष्ण, करीम, राघव आदि सब एक ही परमेश्वर के विविध नाम हैं। उन्होंने वेद, कुरान, पुराण आदि ग्रन्थों में एक ही परमेश्वर का गुणगान किया गया है।

उनका विश्वास था कि ईश्वर की भक्ति के लिए सदाचार, परहित-भावना तथा सदव्यवहार का पालन करना अत्यावश्यक है। अभिमान त्याग कर दूसरों के साथ व्यवहार करने और विनम्रता तथा शिष्टता के गुणों का विकास करने पर उन्होंने बहुत बल दिया। उनके विचारों का आशय यही है कि ईश्वर की भक्ति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। अभिमान शून्य रहकर काम करने वाला व्यक्ति जीवन में सफल रहता है जैसे कि विशालकाय हाथी शक्कर के कणों को चुनने में असमर्थ रहता है, जबकि लघु शरीर की 'चींटी' इन कणों का सरलतापूर्वक चुन लेती है। इसी प्रकार अभिमान तथा बड़प्पन का भाव त्याग कर विनम्रतापूर्वक आचरण करने वाला मनुष्य ही ईश्वर का भक्त हो सकता है।

सन्त रैदास ने सत्य को अनुपम और अनिवर्चनीय कहा है। वह सर्वत्र एक रस है। जिस प्रकार जल में तरंगें हैं उसी प्रकार सारा विश्व उसमें लक्षित होता है। वह नित्य, निराकार तथा सबके भीतर विद्यमान है। सत्य का अनुभव करने के लिये साधक को संसार के प्रति अनासक्त होना पड़ेगा। संत रैदास के अनुसार प्रेममूलक भक्ति के लिये अहंकार की निवृत्ति आवश्यक है। भक्ति और अहंकार एक साथ संभव नहीं है। जब तक साधक अपने साध्य के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण नहीं करता तब तक उसे लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

सन्त रैदास मध्ययुगीन इतिहास के संक्रमण काल में हुए थे। वर्णव्यवस्था की पाशविक मनोवृत्ति से दलित और उपेक्षित पशुवत जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य थे। यह अमानवीय व्यवस्था उनकी मानसिकता को उद्वेलित करती थी। सन्त रैदास की समन्वयवादी चेतना इसी का परिणाम है। उनकी स्वानुभूतिमयी चेतना ने भारतीय समाज में जागृति का संचार किया और उनके मौलिक चिन्तन ने शोषित और उपेक्षित वर्गों में आत्मविश्वास का संचार किया। सन्त रैदास ने मानवता की सेवा में अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। वर्णाश्रम धर्म को समूल नष्ट करने का संकल्प, कुल और जाति की श्रेष्ठता की मिथ्या सिद्धि सन्त रैदास द्वारा अपनाये गये समन्वयवादी मानवधर्म का ही एक अंग है जिसे उन्होंने मानवतावादी समाज के रूप में संकल्पित किया था।

Copyright – Akhil Murti

सन्त रैदास के मन में इस्लाम के लिए भी आस्था का समान भाव था। कबीर की वाणी में जहाँ आक्रोश की अभिव्यक्ति है, वहीं दूसरी ओर सन्त रैदास की रचनात्मक दृष्टि दोनों धर्मों को समान भाव से मानवता के मंच पर लाती है। सन्त रैदास वस्तुतः मानव धर्म के संस्थापक थे।

रैदास ने ईश्वर की उपासना के लिए भक्ति का मार्ग चुना और उसके कई प्रकारों में से रागात्मक वृत्ति को ही महत्व दिया है। रैदास की वाणी भक्ति की सच्ची भावना, समाज के व्यापक हित की कामना तथा मानव प्रेम से ओत-प्रोत होती थी। इसलिए उनकी शिक्षाओं का श्रोताओं के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उनके भजनों तथा उपदेशों से लोगों को ऐसी शिक्षा मिलती थी जिससे उनकी शंकाओं का सन्तोषजनक समाधान हो जाता था और लोग स्वतः उनके अनुयायी बन जाते थे। उनकी वाणी का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि समाज के सभी वर्गों के लोग उनके प्रति श्रद्धालु बन गये।

रैदास अनपढ़ कहे जाते हैं। हालाँकि संत-मत के विभिन्न संग्रहों में उनकी रचनाएँ संकलित मिलती हैं। राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों में रूप में भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। इनके बहुत से पद 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी संकलित मिलते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के पदों की भाषा में बहुत अंतर है तथापि प्राचीनता के कारण 'गुरु ग्रंथ साहब' में संगृहीत पदों को प्रमाणिक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। रैदास के कुछ पदों पर अरबी और फारसी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इसका अधिक संभाव्य कारण उनका लोकप्रचलित होना है।

आज भी सन्त रैदास के उपदेश समाज के कल्याण तथा उत्थान के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने आचरण तथा व्यवहार से यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य अपने जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर महान नहीं होता है। विचारों की श्रेष्ठता, समाज के हित की भावना से प्रेरित कार्य तथा सद्व्यवहार जैसे गुण ही मनुष्य को महान बनाने में सहायक होते हैं। संत रैदास ने समाज के कल्याण के लिए 'बेगमपुरा' की अवधारणा दी। बेगमपुरा एक ऐसे क्षेत्र की कल्पना है जहाँ कोई गम नहीं यानी बे-गम है। इसी से इस क्षेत्र का नाम बेगमपुरा है। इस बेगमपुरा में ऊंच-नीच का कोई स्थान नहीं है। इस बेगमपुरा में सब बराबर हैं। संत कवि रैदास उन महान सन्तों में अग्रणी थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनकी रचनाओं की विशेषताएँ लोक-वाणी का अद्भुत प्रयोग रही हैं जिससे जनमानस पर इनका अमिट प्रभाव पड़ता है। मधुर एवं सहज संत रैदास की वाणी ज्ञानाश्रयी होते हुए भी ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी शाखाओं के मध्य सेतु की तरह है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी रैदास उच्च-कोटि के विरक्त संत थे। उन्होंने ज्ञान-भक्ति का ऊँचा पद प्राप्त किया था। उन्होंने समता और सदाचार पर बहुत बल दिया। वे खंडन-मंडन में विश्वास नहीं करते थे। सत्य को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करना ही उनका ध्येय था। रैदास की विचारधारा और सिद्धांतों को संत-मत की परम्परा के अनुरूप ही पाते हैं। उनका सत्यपूर्ण ज्ञान में विश्वास था। उन्होंने भक्ति के लिए परम वैराग्य अनिवार्य माना जाता है। परम तत्व सत्य है, जो अनिर्वचनीय है- 'यह परमतत्व एकरस है तथा जड़ और चेतन में समान रूप से अनुस्यूत है। संत रैदास की साधनापद्धति का क्रमिक विवेचन नहीं मिलता है। जहाँ-तहाँ प्रसंगवश संकेतों के रूप में वह प्राप्त होती है। विवेचकों ने रैदास की साधना में 'अष्टांग' योग आदि को खोज निकाला है। संत रैदास अपने समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। कबीर ने रविदास संत कहकर उनका महत्व स्वीकार किया इसके अतिरिक्त नाभादास, प्रियादास, मीराबाई आदि ने रैदास का सम्मान स्मरण किया है। संत रैदास ने एक पंथ भी चलाया, जो रैदासी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुयायी पंजाब, गुजरात, उत्तर प्रदेश आदि में पाये जाते हैं। रैदास का प्रभाव आज भी भारत में दूर-दूर तक फैला हुआ है। इस मत के अनुयायी रैदासी या रविदासी कहलाते हैं।

गुरु जम्भेश्वर *(Guru Jambheshwar)*

गुरु जम्भेश्वरजी का जन्म 1451 में राजस्थान के नागौर जिले के पीपासर गाँव में हुआ था। माना जाता है कि वह बचपन से लोगों को अचंभे में डाल देने वाले कार्य कर देते थे संभवतया इसी कारण वे जाम्भा (अचम्भा जी) कहलाने लगे। जब ये लगभग 16 साल थे तब इनकी भेंट गुरु गोरखनाथजी से हुई। श्री गुरु जम्भेश्वरजी की शब्दवाणी से पता चलता है कि उन्होंने विवाह नहीं किया था। बाद में गुरु जम्भेश्वरजी समराथल नामक रेतीले टीले पर रहने लगे गए।

समराथल पर रहते हुए इन्होंने 34 साल की आयु में बिश्नोई समाज की स्थापना की। विशनोई का आशय 29 से है। उन्होंने अपने समुदाय के लिए 29 नियम बनाये, इसलिए इस समुदाय को बिश्नोई (बिश यानी 20 एवं नाई यानी 9) कहा गया। इन नियमों का पालन करने वाले को विश्नोई कहा गया। इनमें से 8 जैवविविधता, 7 सामाजिक व्यवहार, 10 व्यक्तिगत साफ-सफाई एवं स्वास्थ्य और 4 ईश्वर की पूजा से संबंधित है। इनमें से कुछ नियम इस प्रकार हैं। 1 शील, संतोष रखना 2. सुबह-शाम प्रार्थना करना 3. पानी छान कर पीना और झूठ नहीं बोलना 4. दया-नम्रता रखना, 5. निंदा नहीं करना, 6 झूठ नहीं बोलना 7. वाद-विवाद से बचना 8. प्राणियों पर दया करना 9. हरे वृक्ष नहीं काटना, 10. नीले रंग के वस्त्र नहीं पहनना 11. तम्बाकू, भांग आदि का सेवन नहीं करना आदि।

गुरु जी ने अकाल पीड़ितों और गरीबों की अन्न-दान से सहायता करके लोगों को मानवता की शिक्षा दी। उन्होंने 120 अनमोल शब्द कहे थे जिनका यह समुदाय पवित्र कार्यों के समय उच्चारण करता है। इन्हें शब्दवाणी भी कहा जाता है। उनकी समस्त शिक्षाओं

Copyright - Akhil Murti

का स्रोत यही शब्दवाणी है। इसमें उन्होंने कहा कि ईश्वर एक है, उसका नाम 'हरि' है। उन्होंने पेड़ों के संरक्षण और मानवेत्तर प्राणियों को बचाने पर बल दिया। वह मानते थे कि प्रकृति के साथ हमें शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के साथ रहना होगा। 1536 में उनका निधन हो गया। उनकी शिक्षाओं का उनके समाज पर गहरा असर है। इसका प्रमाण यह है कि 1730 में जोधपुर में स्थानीय हरे पेड़ खेजलड़ी को काटने से बचाने के लिए 363 लोगों, जिनमें महिलाएं और बच्चे तक शामिल थे, ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। ये पेड़ स्थानीय महाराज के महल को बनवाने के लिए काटे जा रहे थे। विरोध स्वरूप ये लोग पेड़ों से चिपक गये। जब महाराज को यह बात पता चली तो उन्होंने फौरन अपना आदेश वापस ले लिया और इस कुकृत्य के लिए क्षमा मांगी। यह घटना हमें आज के दौर के प्रसिद्ध चिपको आंदोलन की याद दिलाती है।

एकनाथ *(Eknath)*

एकनाथ महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्तों में ख्याति प्राप्त हैं। महाराष्ट्रीय भक्तों में नामदेव के पश्चात दूसरा नाम एकनाथ का ही आता है। इनका जन्म पैठण में हुआ था। इनका समय 1533 ई. से 1599 ई. के बीच माना जाता है। ये वर्ण से ब्राह्मण जाति के थे। इन्होंने जातिप्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई तथा अनुपम साहस के कारण कष्ट भी सहे। इनकी प्रसिद्धि भागवत पुराण के मराठी कविता में अनुवाद के कारण हुई। दार्शनिक दृष्टि से ये अद्वैतवादी थे।

ऐसी मान्यता है कि एकनाथ अपने माता-पिता को खो चुके थे। इनके दादा ने इनका पालन-पोषण किया था। इनके अन्दर भक्ति भाव का उदय बचपन में हो गया था। बहुधा वे बाहर से किसी पत्थर को उठा लाते और देवता कहकर उसके सामने सन्तों के चरित्र और पुराणों का पाठ करते। बारह वर्ष की उम्र में इन्होंने देवगढ़ के सन्त जनार्दन से दीक्षा ली और छह वर्ष तक गुरु के पास रहकर अध्ययन करते रहे। फिर तीर्थाटन के लिए निकले।

काशी में रहकर इन्होंने हिन्दी भाषा सीखी। अपनी तीर्थयात्रा से लौटने के पश्चात गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। नामदेव और तुकाराम की भाँति एकनाथ ने भी गृहस्थाश्रम को कभी आध्यात्मिक मार्ग की बाधा नहीं समझा। उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का अपूर्व समन्वय था। इन्होंने अपने समय में छुआछूत दूर करने का यत्न किया। एकनाथ अपने जीवन का केवल एक ही उद्देश्य मानते थे कि सभी के अन्दर सर्व-समन्वय की भावना विकसित हो। इस प्रकार उन्होंने समाज में से जातिवाद तथा छुआछूत को दूर करने का भरसक प्रयास किया।

एकनाथ उच्चकोटि के कवि भी थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें प्रमुख हैं- 'चतुः श्लोकी भागवत', 'भावार्थ रामायण', 'रुक्मिणी स्वयंवर', 'पौराणिक आख्यान', 'संत चरित्र' और 'आनन्द लहरी' आदि। एकनाथ ने 'ज्ञानेश्वरी' की भिन्न-भिन्न प्रतियों के आधार पर इस ग्रन्थ का प्रामाणिक रूप भी निर्धारित किया। इन्होंने भागवत पुराण का मराठी भाषा में अनुवाद किया, जिसके कुछ भाग पंढरपुर के मन्दिर में संकीर्तन के समय गाये जाते हैं। इन्होंने 'हरिपद' नामक छब्बीस अभंगों का एक संग्रह भी रचा। ऐसा माना जाता है कि एकनाथ ने गोदावरी के जल में समाधि लेकर अपना जीवनांत किया था।

छत्रपति शाहू जी महाराज *(Chhatrapati Shahuji Maharaj)*

महाराष्ट्र के कोल्हापुर के राजा छत्रपति शाहू जी को एक सच्चे प्रजातंत्रवादी और समाज सुधारक के रूप में माना जाता था। छत्रपति शाहू समाज में महिलाओं के लिए शिक्षा सहित कई प्रगतिशील गतिविधियों के साथ जुड़े रहे थे। वह समाज सुधारक ज्योतिबा फुले के योगदान से काफी प्रभावित थे। उनका जाति और धर्म की परवाह किए बिना दलितों के लिए प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना एक महत्वपूर्ण कदम था। उनका कार्यकाल 1884 से 1922 तक रहा। वे भोंसले वंश के महाराज थे। उनकी जाति मराठा-कुनबी थी। शाहू जी महाराज समाज सुधार के कार्यों के लिए इतिहास में प्रसिद्ध हुए। उनके समय में कोल्हापुर देश का पहला इलाका बना, जहाँ अवर्ण जातियों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण (50 फीसदी) लागू हुआ। कोल्हापुर में अब्राह्मणों को पुरोहित बनाने का काम शाहू जी महाराज के समय में हुआ। उनके कार्यकाल में कोल्हापुर में बालिका विवाह पर पाबंदी लगा दी गयी और विधवा विवाह को मान्यता दी गयी। बाल गंगाधर तिलक इन सामाजिक सुधारों के विरोधी थे।

छत्रपति शाहू ने गरीबों के सामाजिक उत्थान के लिए अपना जीवन समर्पित किया। उन्होंने हमेशा निचली जातियों के विकास और कल्याण पर बल दिया। उन्होंने सभी के लिए शिक्षा और रोजगार उपलब्ध कराने के प्रयास किए। शाहू जी महाराज ने दलित वर्ग के बच्चों को मुफ्त शिक्षा प्रदान करने की प्रक्रिया शुरू की। उन्होंने छात्रावास स्थापित किये और बाहरी छात्रों के लिए शरण प्रदान करने के लिए आदेश दिए। छत्रपति शाहू के शासन के दौरान बाल विवाह को प्रतिबंधित किया गया था। उन्होंने अंतरजातीय विवाह और विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में समर्थन की आवाज उठाई। उसकी गतिविधियों के लिए छत्रपति शाहू समाज को कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा। वह लंबे समय सत्य शोधक समाज (फुले द्वारा गठित संस्था) के संरक्षक भी रहे। महान शासक और सामाजिक विचारक छत्रपति शाहू जी महाराज का 6 मई, 1922 को निधन हो गया।

Copyright – Akhil Murti

जा राममोहन राय (*Raja Rammohan Roy)*

राजा राममोहन राय का जन्म 22 मई, 1772 को बंगाल के हुगली जिले के राधानगर गाँव में एक रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार हुआ। शुरुआती शिक्षा गाँव में पाने के बाद वह उच्च शिक्षा के लिए पटना आ गये, जहाँ वे संस्कृत, अरबी व फारसी भाषा और न व अन्य इस्लामी किताबों से वे अवगत हुए। अरबी चिन्तन पद्धति और सूफियों के दर्शन ने उन्हें प्रभावित किया। पटना से ने के बाद राममोहन ने हिन्दू समाज में फैली कुरीतियों, अंधविश्वासों, मूर्ति पूजा एवं पाखंडों पर निबन्ध लिखने प्रारंभ किये। ब 15 वर्ष की आयु में उन्होंने एक छोटी सी पुस्तिका लिखी थी, जिसमें उन्होंने मूर्तिपूजा का यह कहकर खंडन किया कि ऐसा में नहीं कहा गया है। उनके ऐसे कार्यों से नाराज उनके कट्टरवादी परिवार ने उन्हें घर से निकाल दिया। लेकिन यह स्थिति के लिए बहुत लाभदायक हुई और उन्होंने दूर-दूर तक यात्राएं की एवं ज्ञान और अनुभव संचित किया। राममोहन राय को मूर्तिपूजा परम्पराओं के विरोध के कारण अपना घर भी छोड़ना पड़ा था। इसी क्रम में वे तिब्बत पहुँचे और अपने तर्कों से वहाँ के पुजारी को उत्तरहीन कर दिया। कुछ साल बाद वे वाराणसी पहुँचे और संस्कृत व हिन्दू दर्शन का गहन अध्ययन किया। सन् 1803 में के पिता का देहान्त हो जाने के कुछ समय बाद वे मुर्शिदाबाद चले गये। वहाँ पर उन्होंने "तुहफात-उल-मुवाहिदीन" अर्थात् 'ईश्वरवादियों को एक उपहार' नामक निबन्ध फारसी में लिखा जिसकी भूमिका अरबी में थी। इस निबन्ध में राममोहन ने धर्मो र धार्मिक अनुभव के प्रश्न पर विवेकपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। उन्होंने धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया और एकेश्वरवाद : विशेषताओं की तरफ संसार का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने अलौकिक शक्ति और चमत्कार के सिद्धांतों को नकार दिया।

राममोहन राय ने 1803 में ईस्ट इंडिया कम्पनी के राजस्व विभाग में नौकरी करनी शुरू की और 1809 में राजस्व अधिकारी न डिग्बी के सहायक बने। यहां पर उनका संपर्क तांत्रिक विद्या और जैन धर्म से हुआ। अब उन्होंने यूरोप और इंग्लैंड की जनीतिक घटनाओं में विशेष रूप से रुचि ली। डिग्बी इंग्लैण्ड से जितने भी अखबार और पत्रिकाएं मंगवाते, राम मोहन राय उन्हें ड़े चाव से पढ़ते। उन्होंने 22 वर्ष की आयु में उन्होंने अंग्रेजी सीखनी शुरू की थी। इन पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने से उनके अंग्रेजी न में अभिवृद्धि हुई। वे यूरोपीय राजनीतिक विचारधारा से अवगत हुए।

1815 में उन्होंने आत्मीय सभा की स्थापना की। इसी समय उन्होंने 'वेदान्त सूत्र' का बांग्ला अनुवाद, 'वेदान्त सार' का बांग्ला और वेदान्त का अंग्रेजी में अनुवाद किया। उन्होंने कुछ उपनिषदों का बांग्ला अनुवाद किया। वेदान्त और उपनिषद के बांग्ला और अंग्रेजी में अनुवाद किये जाने का यह प्रथम अवसर था। 1823 में उन्होंने एक विवरणिका लिखी- 'हिन्दू स्त्रियों का अधिकार'। इसमें उन्होंने मांग रखी की हिन्दू स्त्रियों को उनके पिता और पति की सम्पत्ति में से हिस्सा मिलना चाहिए। राम मोहन राय ने लैटिन, ग्रीक था हिब्रू भाषाओं का भी अध्ययन किया।

वे एक सर्वव्यापी धर्म के समर्थक थे। संसार के चार धर्मो-हिन्दू, इस्लाम, बौद्ध और ईसाई का तुलनात्मक अध्ययन करके उनके मूल तत्वों में एकता स्थापित करने वाले वे विश्व के प्रथम व्यक्ति थे। उन्होंने 1822 में अद्वैतवादी संस्था के तत्वावधान में एक अंग्रेजी हाई स्कूल शुरू किया। जहाँ अन्य विद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती थी, लेकिन इसमें विज्ञान बांग्ला भाषा के माध्यम से पढ़ाया जाता था। राम मोहन राय ने बांग्ला में व्याकरण, रेखाचित्र, भूगोल और खगोलशास्त्र जैसी अमूल्य पाठ्य पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार भारतीय शिक्षा में विज्ञान का शुभारंभ राम मोहन राय के कारण ही संभव हुआ। बंकिमचन्द्र चटर्जी और गुरुदेव रविन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं के अन्तर्गत बांग्ला भाषा में जो अनुपम साहित्य शैली विकसित की, उसका एक श्रेय राजाराम मोहनराय द्वारा निर्मित बांग्ला गद्य की रखी बुनियाद को जाता है। बांग्ला में ध्रुपद गीत लिखने का श्रेय भी उन्हीं को जाता है। अपनी ब्रह्म सभा के लिये उन्होंने 32 ध्रुपद गीतों की रचना की।

अप्रैल 1822 ई. में राजा राममोहन राय ने फारसी भाषा में एक साप्ताहिक अखबार 'मिरात-उल-अखबार' नाम से शुरू किया, जो भारत में पहला फारसी अखबार था। साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार को राजा राममोहन राय के धार्मिक विचार और इंग्लैण्ड की आयरलैंड विरोधी नीति को आलोचना पसंद नहीं आई। परिणामस्वरूप सरकार ने प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने के लिए अध्यादेश जारी किया, जिसके विरोध में राजा राममोहन राय ने 'मिरात-उल-अखबार' का प्रकाशन बंद कर दिया। राजा राममोहन राय ने समाचार पत्रों की स्वतंत्रता के लिए भी कड़ा संघर्ष किया था। उन्होंने स्वयं एक बंगाली पत्रिका 'संवाद-कौमुदी' आरम्भ की और उसका सम्पादन भी किया। यह पत्रिका भारतीयों द्वारा सम्पादित सबसे पुरानी पत्रिकाओं में से थी। उन्होंने 1833 ई. के समाचारपत्र संबंधी दमनकारी नियमों के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। 1828 में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। राजा राममोहनराय ने भारतीय समाज में प्रचलित बाल विवाह, बहु विवाह जैसी कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। सती प्रथा के विरुद्ध उन्होंने प्रभावी जनमत तैयार कर आन्दोलन चलाया। इसके परिणाम स्वरूप लार्ड विलियम बैंटिक ने 1829 में इस क्रूर प्रथा को गैर कानूनी घोषित कर दिया।

सन् 1830 में राममोहन राय ने मुगल बादशाह अकबर द्वितीय के दूत के रूप में इंग्लैण्ड की यात्रा की। यात्रा की सफलता पर मुगल बादशाह ने उनको राजा की उपाधि से सम्मानित किया। तभी से उनको राजा राममोहन राय से संबोधित किया जाने लगा। इंग्लैंड प्रवास के समय उनकी मुलाकात दार्शनिक जर्मी बेंथम से हुई और बेहद प्रभावित होने पर उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर लिया। इंग्लैण्ड के ब्रिस्टल में 19 सितम्बर 1833 को अचानक वे तेज बुखार से पीड़ित हो गये किन्तु चिकित्सकों के उपचार के बावजूद 27 सितम्बर को उनका देहान्त हो गया।

Copyright Akhil Murti

ईश्वर चन्द्र विद्यासागर *(Ishwar Chandra Vidyasagar)*

ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का जन्म 26 सितम्बर, 1820 को पश्चिमी मेदिनीपुर जिला (पश्चिम बंगाल) में एक निर्धन धार्मिक परिवार में हुआ था। गाँव के स्कूल से प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद छः वर्ष की आयु में ही ईश्वर चन्द्र पिता के साथ कोलकाता आ गये थे। उत्कृष्ट शैक्षिक प्रदर्शन के कारण उन्हें विभिन्न संस्थानों द्वारा कई छात्रवृत्तियां प्रदान की गई थीं। वे उच्चकोटि के विद्वान थे। उनकी विद्वता के कारण ही उन्हें 'विद्यासागर' की उपाधि दी गई थी। वर्ष 1839 में ईश्वर चन्द्र ने कानून की पढ़ाई संपन्न की। वर्ष 1841 में मात्र इक्कीस वर्ष की आयु में उन्होंने संस्कृत के शिक्षक के तौर पर 'फोर्ट विलियम कॉलेज' में पढ़ाना शुरू कर दिया। बाद में वह 'संस्कृत कॉलेज' में बतौर सहायक सचिव नियुक्त हुए। पहले ही वर्ष उन्होंने शिक्षा पद्धति को सुधारने के लिए अपनी सिफारिशें प्रशासन को सौंप दीं। 1851 में वह इस कॉलेज के प्राधानाचार्य नियुक्त किए गए।

अपने समाज सुधार योगदान के अंतर्गत ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने देशी भाषा और लड़कियों की शिक्षा के लिए स्कूलों की एक श्रृंखला के साथ ही कलकत्ता में 'मेट्रोपॉलिटन कॉलेज' की स्थापना भी की। उन्होंने इन स्कूलों को चलाने में आने वाले खर्च का बीड़ा उठाया। बंगाली में लिखी गई उनकी किताबें हमेशा बच्चों के लिए महत्त्वपूर्ण रहीं। जब विद्यासागर जी कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज के प्रधानाचार्य बनाये गए, तब उन्होंने सभी जाति के छात्रों के लिए कॉलेज खोल दिया। ये उनके अनवरत प्रचार का ही नतीजा था कि 'विधवा पुनर्विवाह कानून-1856' आखिरकार पारित हो सका। उन्होंने इसे अपने जीवन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना था। विद्यासागर जी ने अपने इकलौते पुत्र का विवाह भी एक विधवा से ही किया। उन्होंने 'बाल विवाह' के खिलाफ भी संघर्ष छेड़ा।

जोतीराव फुले *(Jotirao Fule)*

महात्मा जोतीराव गोविंदराव फुले या जोतीबा फुले आधुनिक युग में हुये समाज सुधारकों से बेहद भिन्न माने जाते हैं। उनका जन्म 11 अप्रैल, 1827 को सतारा (महाराष्ट्र) में हुआ था। वह स्वयं माली जाति से थे और उन्होंने देश में व्याप्त जातिप्रथा और हिन्दू धर्म के तमाम पाखंडों और कुरीतियों के खिलाफ संघर्ष किया। उन्होंने सामाजिक रूप से पीछे रह गये समाज के स्त्री-पुरुषों में जागृति और शिक्षा का प्रसार करते हुए उन्हें आत्म सम्मान और अधिकारों के लिए आंदोलित किया। उन्होंने स्त्रियों की दशा सुधारने में भी कड़े प्रयास किये। महात्मा फुले का कार्य निश्चित ही अधिक चुनौतीपूर्ण था। जोतीराव को भी कालान्तर में एक नया विशेषण 'महात्मा' मिला।

महात्मा फुले ने शूद्र जातियों को वर्णव्यवस्था में उच्च स्थान दिलवाने की कोई चेष्टा नहीं की अपितु उन्होंने इस ऊँच-नीच की पूरी व्यवस्था को ही जड़ से नष्ट करने का अभियान छेड़ दिया। 1868 में उन्होंने एक क्रांतिकारी कदम उठाते हुए अपने घर के कुएँ को दलितों के लिए खोल दिया। यह बात अपने आप में बहुत अनोखी थी क्योंकि आज भी भारत के अधिकांश गाँवों में जाति प्रथा कठोर रूप में मौजूद है। उन्हें इसका उतना ही कठोर प्रतिरोध भी झेलना पड़ा और सावित्री बाई से विवाह के बाद इन दोनों दंपती को उनके परिजनों ने ही घर से निकाल दिया। पर उन्होंने थोड़ी भी हिम्मत नहीं हारी बल्कि दुगुने उत्साह के साथ समाज परिवर्तन की मुहीम में जुट गए। सावित्री बाई फुले ने हर स्तर पर न सिर्फ महात्मा फुले का साथ दिया बल्कि एक कदम आगे बढ़कर स्वयं कई जिम्मेदारियाँ भी संभाली।

फुले स्कूल के दिनों से ही एकदम मेधावी रहे थे और उन्होंने तभी से अंग्रेजी की उपलब्ध किताबें पढ़ना शुरू कर दिया था थॉमस पेन की 'राइट्स ऑफ मेन' और 'एज ऑफ रिसन' ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था। तब तक वे सावित्री बाई के साथ दलित लड़कियों के लिए स्कूल खोल चुके थे। 1851 में उन्होंने एक और स्कूल खोला जो सभी जाति की लड़कियों के लिए था। आज के दौर में भले ही हमें महिलाओं की शिक्षा कोई नयी बात नहीं लगे लेकिन उस वक्त समाज में स्पष्ट मान्यता थी कि शिक्षा सिर्फ पुरुष के लिए ही होती है क्योंकि महिलाओं का काम सिर्फ चुल्हा-चौका ओर परिवार की देखभाल का है तथा उस काल की मान्यता के अनुसार लड़की को पराया धन समझा जाता था क्योंकि कम उम्र में ही लड़कियों की शादी कर दी जाती थी। ऐसे समय जोतीबा फुले का महिलाओं को शिक्षा के लिए प्रवृत्त करना उनकी दूरदर्शिता को दर्शाता है।

महात्मा फुले ने अपने जीवन में कभी दो मापदंड नहीं रखे। उन्होंने जो भी चीज समाज के लिए हितकर पाई उसका उपदेश देने के बजाय पहले स्वयं ही अमल किया और उसके बाद उसे समाज में लागू करवाने की कोशिश की। महात्मा फुले ने जाति व्यवस्था के दंश से आमजनों को मुक्त कराने के व्यावहारिक प्रयास के लिए 1873 में सत्यशोधक समाज की स्थापना की जिसके माध्यम से वे आमजनों को हिन्दू धर्म के संस्कारों का विकल्प उपलब्ध कराते हुए उनमें वैज्ञानिक मानववाद का प्रसार करने का कार्य आरम्भ किया। इस दिशा में उन्होंने सबसे पहले पंडितों और हिन्दू कर्मकांडों के सभी आवश्यक संस्कारों (जैसे विवाह, जन्म और मृत्यु) को हटाने के लिए कुछ स्त्री-पुरुषों का समूह तैयार किया जो मंत्र पठन और देवी-देवताओं का पूजा-पाठ किये बिना तथा बिना किसी दान-दक्षिणा के सरलता से इसे पूरा कर दिया करते थे।

Copyright -- Akhil Murti

शिक्षा को मानव मुक्ति का माध्यम जानते हुए उन्होंने अंग्रेज शासकों से प्राथमिक स्तर की शिक्षा की और भी ध्यान देने की वकालत की। उनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा सिर्फ उच्च शिक्षा पर ही खर्च किया जा रहा है जिसका लाभ केवल उच्च वर्णों को ही मिलता है पर यदि सरकार प्राथमिक स्तर पर भी ध्यान देने लगे तभी समाज के कमजोर वर्ग तक शिक्षा पहुँच पायेगी। 1882 में उन्होंने हंटर कमीशन के समक्ष याचिका दायर करके उसका ध्यान इस ओर आकृष्ट कराया कि उच्च वर्ग वाले निम्न वर्गों की शिक्षा के बारे में नहीं सोचते इसलिए सरकार को अब दलित और पिछड़े वर्ग की ओर ध्यान देना जरूरी है।

समाज में पूरी तरह समता स्थापित करना उनके जीवन का लक्ष्य था। इसलिए उन्होंने जब भी कोई शोषित वर्ग देखा तो उसके उत्थान के लिए अपने को रोक नहीं पाए। उन्होंने जब ब्राह्मण विधवाओं की दुर्दशा देखी तो वे उनके उत्थान के लिए जुट गए। उन्होंने विधवा पुनर्विवाह के लिए अभियान आरम्भ किया क्योंकि उन्होंने देखा कि विधवाओं पर तमाम प्रतिबन्ध जैसे उनके सर मुंडवाना, सफेद साड़ी पहनने की अनिवार्यता और उनके सामान्य जीवन पर प्रतिबन्ध लगाया करते थे। इस अमानवीय प्रथा को देखकर महात्मा फुले ने सावित्री बाई के साथ मिलकर विधवा आश्रम की स्थापना की, जहाँ न सिर्फ विधवाओं के रहने और खाने की व्यवस्था थी बल्कि वहाँ पर प्रसव सुविधा भी थी। जोतीबा फुले ने महिलाओं की स्थिति में सुधार में सक्रिय पंडिता रमा बाई का साथ दिया। इसी तरह उन्होंने भारत की पहली महिला नारीवादी माने जाने वाली तारा बाई शिंदे के अभियान का भी समर्थन किया।

महात्मा फुले किसी भी रूप में स्त्री को पुरुष से कम नहीं मानते थे इसलिए जब उनकी शादी के वर्षों बाद भी उन्हें कोई संतान नहीं हुई और लोग उन पर इसके लिए दूसरी शादी करने का दबाव बनाने लगे तो फुले ने बड़ी दृढ़ता के साथ उन्हें जवाब देते हुए कहा कि संतान नहीं होने पर स्त्री को दोषी मानना बिल्कुल भी विज्ञानसम्मत नहीं है। बल्कि यह पुरुषवादी मानसिकता है जो दूसरी शादी करने की वकालत करती हैं इसलिए बेहतर है हम दोषारोपण करने के बजाय कोई बच्चा गोद ले लें और उन्होंने अपने विधवा आश्रम से ब्राह्मणी विधवा का बेटा गोद ले लिया।

महात्मा फुले निर्बलों की सेवा अपनी जान जोखिम में डाल कर किया करते थे। 1890 में जब उनका गाँव प्लेग की चपेट में आया तो उन्होंने बिना परवाह के रोगियों की सेवा में समर्पित कर दिया। अंततः वे स्वयं भी प्लेग का शिकार हो गए। उल्लेखनीय है कि महात्मा फुले की मृत्यु के बाद भी उनका अभियान जारी रहा। डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर को बड़ौदा नरेश से मिलवाकर उनके लिए विदेश में पढ़ाई के लिए स्कॉलरशिप उपलब्ध करवाने में मदद करने वाले तथा बाबा साहब को उनके युवा दिनों में बुद्ध के धर्म से अवगत करवाने वाले केलुस्कर गुरुजी सत्यशोधक समाज के ही सदस्य थे। बाबासाहब भी स्वयं महात्मा फुले के कार्यों और विचारों से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने बुद्ध और कबीर के साथ महात्मा फुले को अपना गुरु माना।

सावित्री बाई फुले *(Savitri Bai Phule)*

सावित्री बाई फुले (1831-97) का जीवन एक स्त्री की जीवटता और मनोबल को समर्पित है। उन्होंने तमाम विरोध और बाधाओं के बावजूद अपने संघर्ष में डटे रहने तथा अपने धैर्य और आत्मविश्वास से महिलाओं में शिक्षा की अलख जगाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे प्रतिभाशाली कवयित्री, आदर्श अध्यापिका, निःस्वार्थ समाजसेविका और सत्य शोधक समाज का कुशल नेतृत्व करने वाली महान नेता थीं।

महाराष्ट्र के सतारा जिले में सावित्री बाई का जन्म तीन जनवरी 1831 को हुआ। इनके पिता का नाम खंडोजी नवसे पाटिल और माँ का नाम लक्ष्मी था। केवल नौ साल की आयु में उनका विवाह पूना के ज्योतिबा फुले के साथ हुआ। इसके बाद सावित्री बाई का जीवन परिवर्तन आरंभ हो गया। वह समय दलितों और स्त्रियों के लिए नैराश्य और अंधकार का समय था। समाज में अनेक कुरीतियाँ फैली हुई थीं और नारी शिक्षा का प्रचलन नहीं था। विवाह के समय तक सावित्री बाई फुले की स्कूली शिक्षा नहीं हुई थी और ज्योतिबा फुले तीसरी कक्षा तक पढ़े थे। लेकिन उनके मन में सामाजिक परिवर्तन की तीव्र इच्छा थी। इसलिये इस दिशा में समाज सेवा का जो पहला काम उन्होंने प्रारंभ किया, वह था अपनी पत्नी सावित्री बाई को शिक्षित करना। सावित्री बाई की भी बचपन से शिक्षा में रुचि थी और उनकी ग्राह्य शक्ति तेज थी। उन्होंने स्कूली शिक्षा प्राप्त की और अध्यापन का प्रशिक्षण लिया।

सावित्री-ज्योतिबा दंपती ने इसके बाद अपना ध्यान समाज-सेवा की ओर केन्द्रित किया। 1 जनवरी 1848 को उन्होंने पूना के बुधवारा पेठ में पहला बालिका विद्यालय खोला। सावित्री बाई फुले इस स्कूल की प्रधानाध्यापिका बनीं। इसी वर्ष उस्मान शेख के बाड़े में प्रौढ़-शिक्षा के लिए एक दूसरा स्कूल खोला गया। दबी-पिछड़ी जातियों के बच्चे (विशेषरूप से लड़कियाँ) बड़ी संख्या में इन पाठशालाओं में आने लगे। इससे उत्साहित होकर फुले दंपती ने अगले चार वर्षों में ऐसे ही 18 स्कूल विभिन्न स्थानों में खोले। स्त्रियों में शिक्षा प्रचारित करने के लिए सावित्री फुले ने जहाँ स्वयं शिक्षिका बनकर पहल की वहीं उन्होंने महिला शिक्षकों की एक टीम भी तैयार की इसमें उन्हें फातिमा शेख नाम की एक महिला का भरपूर सहयोग मिला। शिक्षा विभाग ने उन्हें शाल देकर सम्मानित किया। सावित्री बाई का शिक्षिका के रूप में प्रभावी होने का असर उनके विद्यार्थियों पर भी हुआ। 1858 में उनकी एक ग्यारह वर्षीय छात्रा मुक्ताबाई ने प्रभावशाली निबंध लिखा जिसमें उसने दलित समाज की व्यथा और ब्राह्मणी धरम पाखंड को प्रस्तुत किया। एक अन्य महिला ताराबाई शिंदे ने 'स्त्री पुरुष' तुलना पर निबंध लिखा। कई विचारक ताराबाई शिंदे को देश की पहली महिला नारीवादी तक का दर्जा देते हैं।

Copyright - Akhil Murti

फुले दंपती ने अब अपना ध्यान बाल-विधवा और बाल-हत्या पर केन्द्रित किया। हिन्दू विधवाएं जब घर से लांछित होकर बेघर कर दी जाती थीं तब उन्हें सहारा देने के उद्देश्य से फुले दंपती ने विधवा आश्रम की स्थापना की। सावित्री अपने सहयोगियों के साथ इन विधवाओं के प्रसव और देखभाल की जिम्मेदारी स्वयं ही उठाया करती थीं। उन्होंने विधवाओं को जबरन सर मुंडवाने के खिलाफ स्वयं मोर्चा खोला और 1860 में इस कर्म के खिलाफ सफल हड़ताल का आयोजन किया। सावित्री बाई फुले ने विधवा पुनर्विवाह में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। 1873 में उन्होंने पहला विधवा विवाह करवा कर मानो सामाजिक क्रांति की शुरुआत कर दी। इसका धार्मिक स्तर पर कड़ा विरोध किया गया, पर फुले दंपती ने साहस नहीं छोड़ा। ये विवाह इस रूप में भी क्रांतिकारी थे कि इनमें पुरोहित को शामिल नहीं किया गया था। जोतीबा फुले ने अपने सत्यशोधक समाज के माध्यम से खुद विवाह विधि तैयार की थी जिसमें उन्होंने विवाह के लिए प्रयुक्त मंत्रोच्चार जैसी प्रणाली 'मंगलाष्टक' का निर्माण किया। इसमें स्त्री-पुरुष को एक समान और मित्रवत मानने की प्रतिज्ञा करवाई जाती थी, उस समय इस तरह की विधि का पालन करवाया जाना एक बहुत बड़ा विद्रोही कदम था। वे चाहते थे कि विवाह विधि में पुरुष प्रधान संस्कृति के समर्थक और स्त्री की गुलामगिरी सिद्ध करने वाले जितने मंत्र हैं, वे सारे निकाल दिए जाएं। उनके स्थान पर ऐसे मंत्र हों जिन्हें वर-वधू आसानी से समझ सकें। ज्योतिबा के मंगलाष्टकों में वधू वर से कहती है- "स्वतंत्रता का अनुभव हम स्त्रियों को है ही नहीं। इस बात की आज शपथ लो कि स्त्री को उसका अधिकार दोगे और उसे अपनी स्वतंत्रता का अनुभव करने दोगे।" यह आकांक्षा सिर्फ वधू की ही नहीं, गुलामी से मुक्ति चाहने वाली हर स्त्री की थी।

1853 में उन्होंने बाल-हत्या प्रतिबंधक-गृह की स्थापना की। इसमें विधवाएँ अपने बच्चों को जन्म दे सकती थीं और यदि वे शिशु को अपने साथ न रख सकें तो उन्हें यहीं छोड़कर भी जा सकती थीं। इस अनाथालय की सम्पूर्ण व्यवस्था सावित्री बाई फुले सम्भालती थीं और बच्चों का पालन पोषण माँ की तरह करती थीं। उनका ध्यान खेत-खलिहानों में काम करने वाले अशिक्षित मजदूरों की ओर भी गया। 1855 में ऐसे मजदूरों के लिए फुले दंपती ने रात्रि-पाठशाला खोली। उस समय अस्पृश्य जातियों के लोग सार्वजनिक कुएँ से पानी नहीं भर सकते थे। अतः फुले दंपती ने अपने घर का कुआँ सर्वसाधारण के लिए खोल दिया। सन 1876-77 में पूना नगर अकाल की चपेट में आ गया। उस समय फुले दंपती 52 विभिन्न स्थानों पर अन्न-छात्रावास खोले और गरीब जरूरतमंद लोगों के लिये मुफ्त भोजन की व्यवस्था की।

फुले दंपती ने हर स्तर पर कंधे-से कंधा मिलाकर काम किया और कुरीतियों, अंध श्रद्धा और पारम्पारिक अनीतिपूर्ण रूढ़ियों को ध्वस्त कर गरीबों- शोषितों के हित में खड़े हुए। 1840 से 1890 तक फुले दंपती ने एक प्राण होकर समाज सुधार के अनेक कामों को पूरा किया। वे संतानहीन थे। उन्होंने 1874 में काशीबाई नामक एक विधवा ब्राह्मणी के नाजायज बच्चे को गोद लिया। यशवंतराव फुले नाम से यह बच्चा पढ़-लिखकर डॉक्टर बना। 1890 में महात्मा ज्योतिबा फुले के निधन के बाद सावित्री बाई ने बड़ी मजबूती के साथ इस आन्दोलन की जिम्मेदारी सम्भाली और महाराष्ट्र के सत्य-शोधक समाज के अधिवेशन में ऐसा भाषण दिया जिसने दबे-पिछड़े लोगों में आत्म-सम्मान की भावना भर दी। सावित्री बाई का दिया गया यह भाषण उनके प्रखर क्रांतिकारी और विचार-प्रवर्तक होने का परिचय देता है।

1897 में जब पूना में प्लेग फैला तब वे अपने पुत्र के साथ लोगों की सेवा में जुट गईं। सावित्री बाई की आयु उस समय 66 वर्ष की हो गई थी। फिर वे निरंतर श्रम करते हुए तन-मन से लोगों की सेवा में लगी रहीं। इस कठिन श्रम के समय उन्हें भी प्लेग ने धर दबोचा और 10 मार्च 1897 में उनका निधन हो गया।

सावित्री बाई का सर्वाधिक विरोध महिलाओं द्वारा ही हुआ, जो न सिर्फ उन्हें तरह-तरह के ताने मार के प्रताड़ित किया करती थीं, बल्कि उनमें से कई महिलाएं तो सावित्री बाई फुले के स्कूल आते-जाते वक्त उन पर गोबर और पत्थर तक फेंका करती थीं। ऐसे में उनका कपड़ा और चेहरा गन्दा हो जाया करता था। पर उन्होंने बिल्कुल भी हिम्मत नहीं हारी और उल्टा इन सबको मुंह तोड़ जवाब देते हुए अपने साथ एक और साड़ी ले जाने लगी जिसे वह स्कूल जाकर पहन लिया करती थी तथा वापिस आते समय फिर वही गन्दी साड़ी बदल लिया करती थीं। सावित्री ने न सिर्फ भारत की पहली महिला शिक्षिका थी बल्कि उनकी लेखनी भी बेहद प्रभावी थी। 1854 में उनका पहला संग्रह 'काव्य फुले' प्रकाशित हुआ जो अपने किस्म का पहला ऐतिहासिक साहित्य सिद्ध हुआ क्योंकि इसमें उन्होंने मराठी के प्रचलित अभंगों की ही शैली में अपने काव्य को प्रस्तुत किया जिसमें उनकी भाषा सरल और प्रभावी थी। इसमें कुछ कवितायें जहाँ प्रकृति पर थीं वहीं अधिकांश कविताओं में शिक्षा, जाति व्यवस्था और गुलामी की समस्याओं को उठाया गया था। इस संग्रह को आज मराठी साहित्य का आधार माना जाता है। उनका एक महत्त्वपूर्ण काव्य संग्रह महात्मा फुले की जीवनी पर था, जो बावन कशी सुबोध रत्नाकर नाम से प्रकाशित हुआ। इन रचनाओं के अलावा सावित्री बाई फुले ने कुछ किताबों का संपादन भी किया। इनमें चार पुस्तकें ज्योतिबा के भारतीय इतिहास पर व्याख्यान विषय पर थीं। 1852 में उन्होंने खुद के भाषणों का भी सम्पादन किया। अपने एक निबंध 'कर्ज' में सावित्री बाई लिखती हैं की त्यौहारों और कर्मकाण्डों को मनाने के लिए कर्ज लेना सबसे बड़ी बेवकूफी है क्योंकि इससे तथाकथित परलोक तो नहीं सुधरने वाला बल्कि कर्ज में डूबने से जिन्दगी ही बर्बाद होगी।

Copyright – Akhil Murti

वे कहा करती थीं "कड़ी मेहनत करो, अच्छे से पढ़ाई और अच्छा काम करो।" उन्होंने उस समय ही यह जान लिया था कि दलित-बहुजनों की प्रगति का सबसे बड़ा आधार अंग्रेजी भाषा ही हो सकती है। इसलिए उन्होंने अंग्रेजी को मुक्ति दायिनी माता कहा और अंग्रेजी का महत्व उजागर करते हुए उन्होंने 'माँ अंग्रेजी' शीर्षक से एक कविता भी लिखी जिसमें उन्होंने बताया कि पेशवा राज की समाप्ति और अंग्रेजों का भारत में आगमन दलित-बहुजनों (अनुसूचित जाति/जनजाति और ओबीसी) के लिए कितना लाभदायक रहा।

गौरतलब है कि सदियों से भारत में जहाँ दलितों को सार्वजनिक स्थानों पर चलने तक का अधिकार नहीं था वहीं भारत में अंग्रेजी राज स्थापित होने के बाद दलितों को शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के नए अवसर मिलने लगे थे।

रामकृष्ण परमहंस *(Ramkrishna Paramhansa)*

रामकृष्ण परमहंस का जन्म पश्चिम बंगाल के हुगली जिले में कामारपुकुर नामक ग्राम के एक दीन एवं धर्मनिष्ठ परिवार में 18 फरवरी, 1836 ई. को हुआ। बाल्यावस्था में वह गदाधर के नाम से प्रसिद्ध थे। उनकी संगीतात्मक प्रतिभा, चरित्र की पवित्रता, गहरी धार्मिक भावनाएँ, सांसारिक बातों की ओर से उदासीनता, आकस्मिक रहस्यमयी समाधि, और सबके ऊपर उनकी अपने माता-पिता के प्रति अगाध भक्ति ने उन्हें पूरे गाँव का आकर्षक व्यक्ति बना दिया था। गदाधर की शिक्षा तो साधारण ही हुई, किंतु पिता की सादगी और धर्मनिष्ठा का उन पर पूरा प्रभाव पड़ा।

रामकृष्ण परमहंस 17 वर्ष की अवस्था में कलकत्ता चले आये और रानी रासमणि के दक्षिणेश्वर मंदिर (कोलकाता) में पूजा के लिये नियुक्त हुए। यहीं उन्होंने माँ महाकाली के चरणों में अपने को उत्सर्ग कर दिया। रामकृष्ण परमहंस भक्ति भाव में बहुत ज्यादा तन्मय रहते। उन्होंने असाधारण दृढ़ता और उत्साह से बारह वर्षों तक लगभग सभी प्रमुख धर्मों एवं संप्रदायों का अनुशीलन किया। परमहंस अद्वैत मत के समर्थक थे। उनके व्यक्तित्व से ब्रह्म समाज के अध्यक्ष केशवचन्द्र सेन जैसे विद्वान भी प्रभावित थे। उनके प्रभाव एवं आध्यात्मिक शक्ति ने नरेन्द्र जैसे नास्तिक, तर्कशील युवक को परम आस्तिक, भारत के गौरव का प्रसारक स्वामी विवेकानन्द बना दिया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी का अधिकांश जीवन प्रायः समाधि की स्थिति में ही व्यतीत हुआ। जीवन के अन्तिम तीस वर्षों में उन्होंने काशी, वृन्दावन, प्रयाग आदि तीर्थों की यात्रा की। उनकी उपदेश-शैली बड़ी सरल और भावग्राही थी। वे एक छोटे दृष्टांत में पूरी बात कह जाते थे। स्नेह, दया और सेवा के द्वारा ही उन्होंने लोक सुधार की सदा शिक्षा दी।

समय जैसे-जैसे व्यतीत होता गया, उनके कठोर आध्यात्मिक अभ्यासों और सिद्धियों के समाचार तेजी से फैलने लगे और दक्षिणेश्वर का मंदिर उद्यान शीघ्र ही भक्तों एवं भ्रमणशील संन्यासियों का प्रिय आश्रयस्थान हो गया। 16 अगस्त, सन 1886 को उनका निधन हो गया। उनके प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानंद ने उनके नाम पर ही 'रामकृष्ण मठ' की स्थापना की।

महादेव गोविन्द रानाडे *(Mahadev Govind Ranade)*

महादेव गोविंद रानाडे भारत के प्रसिद्ध राष्ट्रवादी, समाज सुधारक, विद्वान और न्यायविद थे। गोविंद रानाडे का जन्म 1842 ई. में पुणे में हुआ था। पुणे में आरंभिक शिक्षा पाने के बाद रानाडे ने ग्यारह वर्ष की उम्र में अंग्रेजी शिक्षा आरंभ की। बाद में वे पुणे के एलफिंस्टन कॉलेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक नियुक्त हुए थे। एल.एल.बी. पास करने के बाद वे उप-न्यायाधीश नियुक्त किए गए। वे निर्भीकतापूर्वक निर्णय देने के लिए प्रसिद्ध थे। उन्होंने देश में अपने ढंग के महाविद्यालय स्थापित करने के लिए विशेष प्रयास किए। वे आधुनिक शिक्षा के हिमायती तो थे ही, लेकिन भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप।

रानाडे ने समाज सुधार के कार्यों में आगे बढ़कर हिस्सा लिया। वे प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज आदि के सुधार कार्यों से अत्यधिक प्रभावित थे। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी उन्होंने जनता से संपर्क बनाये रखा। दादाभाई नौरोजी के पथ प्रदर्शन में वे शिक्षित लोगों को देशहित के कार्यों की ओर प्रेरित करते रहे। प्रार्थना समाज के मंच से रानाडे ने महाराष्ट्र में अंधविश्वास और हानिकार रूढ़ियों का विरोध किया। धर्म में उनका अंधविश्वास नहीं था। वे मानते थे कि देश-काल के अनुसार धार्मिक आचरण बदलते रहते हैं। उन्होंने स्त्री शिक्षा का प्रचार किया। वे बाल विवाह के कट्टर विरोधी और विधवा विवाह के समर्थक थे। इसके लिए उन्होंने एक समिति 'विधवा विवाह मण्डल' की स्थापना भी की थी। महादेव गोविन्द रानाडे 'दक्कन एजुकेशनल सोसायटी' के संस्थापकों में से एक थे।

महादेव गोविंद रानाडे ने 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना का सम्मान किया था और 1885 ई. के उसके प्रथम बंबई अधिवेशन में भाग भी लिया। राजनीतिक सम्मेलनों के साथ-साथ सामाजिक सम्मेलनों के आयोजन का श्रेय उन्हीं को है। वे मानते थे कि मनुष्य की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक प्रगति एक दूसरे पर आश्रित है। अतः ऐसा व्यापक सुधारवादी आंदोलन होना चाहिए, जो मनुष्य की चतुर्मुखी उन्नति में सहायक हो। वे सामाजिक सुधार के लिए केवल पुरानी रूढ़ियों को तोड़ना पर्याप्त नहीं मानते थे। उनका कहना था कि रचनात्मक कार्य से ही यह संभव हो सकता है। वे स्वदेशी के समर्थक थे और देश

Copyright Akhil Murti

में निर्मित वस्तुओं के उपयोग पर बल देते थे। देश की एकता उनके लिए सर्वोपरी थी। उन्होंने कहा था कि- "प्रत्येक भारतवासी को यह समझना चाहिए कि पहले मैं भारतीय हूँ और बाद में हिन्दू, ईसाई, पारसी, मुसलमान आदि कुछ और।" वे एक प्रकांड विद्वान थे। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें से प्रमुख हैं- विधवा पुनर्विवाह, मालगुजारी कानून, राजा राममोहन राय की जीवनी, मराठों का उत्कर्ष धार्मिक एवं सामाजिक सुधार। भरपूर सेवा करने वाले और समाज को नई राहें दिखाने वाले गोविंद रानाडे का निधन 16 जनवरी, 1901 ई. को हुआ।

डॉ. धोंडो केशव कर्वे *(Dr. Dhondo Keshav Karve)*

डॉ. धोंडो केशव कर्वे (18 अप्रैल, 1858-9 नवंबर 1962) की गिनती आधुनिक भारत के उच्च कोटि के समाज सुधारकों एवं उद्धारकों में होती है। उनका जन्म महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के 'मुरूड' नामक गांव के गरीब ब्राह्मण परिवार में हुआ। मात्र 15 वर्ष की आयु में उनका विवाह कर दिया गया था। लेकिन जल्द ही उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई।

महर्षि कर्वे में छोटी आयु से ही समाज सुधार के प्रति रुचि दिखायी देने लगी थी। उनके गांव के ही कुछ विद्वान और समाज के प्रति जागरूक कुछ लोगों जैसे राव साहब मांडलिक और सोमन गुरुजी ने उनके मन में समाज सेवा के प्रति भावना और उच्च चारित्रिक गुणों को उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। उनके वही गुण दिन-प्रतिदिन निखरते चले गये। 1891 में वे राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा संचालित पूना के 'फर्ग्युसन कॉलेज' में गणित के प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। अपनी मेहनत और प्रतिभा से वह 'दक्कन शिक्षा समिति' के आजीवन सदस्य बने। कॉलेज में अध्यापन करते समय उन्होंने समाज सुधार के क्षेत्र में पदार्पण किया। वह महात्मा गांधी द्वारा चलाई गयी नई शिक्षा नीति और महाराष्ट्र समाज सुधार समिति के कार्यों में भी व्यस्त रहे थे।

1893 में उन्होंने अपने मित्र की विधवा बहन 'गोपूबाई' से विवाह किया। विवाह के बाद गोपूबाई का नया नाम 'आनन्दीबाई' पड़ा। उनके इस कार्य के परिणामस्वरूप पूरे महाराष्ट्र में विशेषकर उनकी जाति बिरादरी में बड़ा रोष और विरोध उत्पन्न हो गया। इसी विरोध ने महर्षि कर्वे को समाज द्वारा उपेक्षित विधवाओं के उद्धार और पुनर्वास के लिए प्रेरित किया। उन्होंने कुछ स्थानों पर अपने तत्वाधान में विधवाओं के पुनर्विवाह भी संपन्न कराये। धीरे-धीरे महर्षि कर्वे के इस विधवा उद्धार के कार्यों को प्रशंसा, मान्यता और धन-जन सब मिलने लगा। 1896 में उन्होंने पूना में एक विधवा आश्रम और अनाथ बालिका आश्रम की स्थापना की। 1907 में महर्षि कर्वे ने महिलाओं के लिए 'महिला विद्यालय' की स्थापना की। जब उन्होंने विधवा और अनाथ महिलाओं के इस विद्यालय को सफल होते देखा तो उन्होंने इस काम को आगे बढ़ाते हुए महिला विश्वविद्यालय की योजना पर भी विचार करना प्रारम्भ कर दिया। अंततः महर्षि कर्वे के अथक प्रयासों से 1916 में 'महिला विश्वविद्यालय' की नींव रखी गयी।

महर्षि कर्वे का कार्य केवल महिला विश्वविद्यालय या महिलाओं के पुनरोत्थान तक ही सीमित नहीं रहा, वरन उन्होंने 'इंडियन सोशल कान्फ्रेंस' के अध्यक्ष के रूप में समाज में व्याप्त बुराइयों को समाप्त करने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। एक महान सुधारक होने के साथ-साथ वह एक अच्छे शिक्षा शास्त्री भी थे। गाँवों में शिक्षा को सहज सुलभ बनाने और उसके प्रसार के लिए उन्होंने चंदा एकत्र कर लगभग 50 से भी अधिक प्राइमरी विद्यालयों की स्थापना की थी। 1958 में जब महर्षि कर्वे ने अपने जीवन के सौ वर्ष पूरे किए, देश भर में उनकी जन्म शताब्दी मनायी गयी। इस अवसर को अविस्मरणीय बनाते हुए भारत सरकार द्वारा इसी वर्ष उन्हें 'भारत रत्न' से सम्मानित किया गया। 9 नवंबर, 1962 को उनका निधन हो गया।

पंडित मदन मोहन मालवीय *(Pt. Madan Mohan Malviya)*

मदनमोहन मालवीय (25 दिसम्बर, 1861-12 नवम्बर, 1946) महान स्वतंत्रता सेनानी, राजनीतिज्ञ और शिक्षाविद ही नहीं, बल्कि एक बड़े समाज सुधारक भी थे। इलाहाबाद में जन्मे पंडित मदन मोहन मालवीय अपने महान कार्यों के चलते 'महामना' कहलाये। शिक्षा ग्रहण करने के बाद उन्होंने अध्यापन का कार्य शुरू किया। शीघ्र ही 1893 ई. में उन्होंने इलाहाबाद हाईकोर्ट में बतौर वकील के रूप में कामकाज प्रारंभ कर दिया। प्राचीन संस्कृति के घोर समर्थक मालवीय जी समाचार पत्रों द्वारा जनता में प्रचार करने में बहुत विश्वास रखते थे। उन्होंने तीन पत्रों- हिन्दुस्तान, इंडियन यूनियन तथा अभ्युदय का सम्पादन किया। 'लीडर' और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की स्थापना का श्रेय भी मालवीय जी को ही जाता है। 'मर्यादा पत्रिका', 'लीडर' के हिन्दी संस्करण 'भारत' का आरम्भ 1921 में हुआ और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का हिन्दी संस्करण 'हिन्दुस्तान' भी वर्षों से निकल रहा है। इनकी मूल प्रेरणा में मालवीय जी ही थे।

1906 ई. में इलाहाबाद के कुम्भ के अवसर पर उन्होंने सनातन धर्म का विराट अधिवेशन कराया, जिसमें उन्होंने 'सनातन धर्म-संग्रह' नामक एक वृहद ग्रंथ तैयार कराकर महासभा में उपस्थित किया। कई वर्ष तक उस सनातन धर्म सभा के बड़े-बड़े अधिवेशन मालवीय जी ने कराये। अगले कुम्भ में त्रिवेणी के संगम पर इनका सनातन धर्म सम्मेलन भी इस सभा से मिल गया। सनातन धर्म सभा के सिद्धांतों के प्रचारार्थ काशी से 20 जुलाई, 1933 ई. को मालवीय जी की संरक्षता में 'सनातन धर्म' नामक

Copyright - Akhil Murti

साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित होने लगा। वे विविध सम्मेलनों, सार्वजनिक सभाओं आदि में भी भाग लेते रहे। उनके 'सनातन धर्म सभा' के नेता होने के कारण देश के विभिन्न भागों में जितने भी सनातन धर्म महाविद्यालयों की स्थापना हुई, वह मालवीय जी की सहायता से ही हुई। इनमें कानपुर, लाहौर, अलीगढ़, आदि स्थानों के सनातन धर्म महाविद्यालय उल्लेखनीय हैं।

आर्य समाज के प्रवर्तक तथा अन्य कार्यकर्ताओं ने हिन्दी की जो सेवा की थी, मालवीय जी उसकी कद्र करते थे। किंतु धार्मिक और सामाजिक विषयों पर उनका आर्य समाज से मतभेद था। उन्होंने समाचार पत्रों के माध्यम से हिन्दी के उत्थान के लिए बहुत प्रयास किये। वह कर्मकाण्ड, रीतिरिवाज, मूर्तिपूजन आदि को वे हिन्दू धर्म का मौलिक अंग मानते थे। इसलिए धार्मिक मंच पर आर्यसमाज की विचार धारा का विरोध करने के लिए उन्होंने जनमत संगठित करना आरम्भ किया। इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप पहले 'भारतधर्म महामण्डल' और बाद में 'अखिल भारतीय सनातन धर्म' सभा की नींव पड़ी।

मालवीय जी ने हिन्दी की सबसे बड़ी सेवा यह की कि उन्होंने उत्तर प्रदेश की अदालतों और दफ्तरों में हिन्दी को व्यवहार योग्य भाषा के रूप में स्वीकृत कराया। इससे पहले केवल उर्दू ही सरकारी दफ्तरों और अदालतों की भाषा थी। यह आन्दोलन उन्होंने 1890 ई. में आरम्भ किया था। 1900 ई. में गवर्नर ने उनका आवेदन पत्र स्वीकार किया और इस प्रकार हिन्दी को सरकारी कामकाज में हिस्सा मिला। 1893 ई. में मालवीय जी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में पूर्ण योग दिया। वे सभा के प्रवर्तकों में से थे और आरम्भ से ही सभा को उनकी सहायता का सम्बल रहा। सभा के प्रकाशन, शोध और हिन्दी प्रसार-कार्य में मालवीय जी की रुचि बराबर बनी रही और अंतिम समय तक वे उसका मार्गदर्शन करते रहे।

1910 ई. में उनकी सहायता से इलाहाबाद में 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना हुई। उसी वर्ष अक्टूबर में सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन काशी में हुआ जिसके सभापति मालवीय जी थे। मालवीय जी विशुद्ध हिन्दी के पक्ष में थे। वे हिन्दी और हिन्दुस्तानी को एक नहीं मानते थे।

1902 ई. में मालवीय जी उत्तर प्रदेश 'इंपीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल' के सदस्य और बाद में 'सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेंबली' के सदस्य चुने गये। प्रारम्भ से ही मालवीय जी राजनीति में रुचि लेने लगे और कांग्रेस की अध्यक्षता भी की। वह तीन बार हिन्दू महासभा के अध्यक्ष चुने गये। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि 1915 ई. में 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना रही। मालवीय जी ने गांधी जी के असहयोग आंदोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिया। 1928 में उन्होंने लाला लाजपत राय, जवाहर लाल नेहरू और अन्य स्वतंत्रता सेनानियों के साथ मिलकर साइमन कमीशन का जबर्दस्त विरोध किया और इसके खिलाफ देशभर में जनजागरण अभियान भी चलाया। महामना तुष्टीकरण की नीतियों के खिलाफ थे। उन्होंने 1916 के लखनऊ पैक्ट के तहत मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचक मंडल का विरोध किया। उन्होंने 1931 में पहले गोलमेज सम्मेलन में देश का प्रतिनिधित्व किया।

रबीन्द्रनाथ ठाकुर *(Rabindranath Thakur)*

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म 7 मई, 1861 को कलकत्ता में देवेंद्रनाथ टैगोर और शारदा देवी के पुत्र के रूप में एक संपन्न बांग्ला परिवार में हुआ था। बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री टैगोर सहज ही कला के कई स्वरूपों की ओर आकृष्ट हुए जैसे-साहित्य, कविता, नृत्य और संगीत। दुनिया के समकालीन सांस्कृतिक रूझान से वे भली-भाँति अवगत थे। साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में टैगोर की चित्रकला यात्रा शुरू हुई। यह उनके कवित्व सजगता का विस्तार था। हालाँकि उन्हें कला की कोई औपचारिक शिक्षा नहीं मिली थी फिर भी उन्होंने एक सशक्त एवं सहज दृश्य शब्दकोश का विकास कर लिया था। श्री टैगोर की इस उपलब्धि के पीछे आधुनिक पाश्चात्य, पुरातन एवं बाल्य कला जैसे दृश्य कला के विभिन्न स्वरूपों की उनकी गहरी समझ थी।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की स्कूल की पढ़ाई प्रतिष्ठित सेंट जेवियर स्कूल में हुई। टैगोर ने बैरिस्टर बनने की चाहत में 1878 में इंग्लैण्ड के ब्रिजटोन पब्लिक स्कूल में नाम दर्ज कराया। उन्होंने लंदन कॉलेज विश्वविद्यालय में कानून का अध्ययन किया लेकिन 1880 में बिना डिग्री हासिल किए ही वापस आ गए। रवीन्द्रनाथ टैगोर को बचपन से ही कविताएँ और कहानियाँ लिखने का शौक था। रवीन्द्रनाथ टैगोर को प्रकृति से बहुत प्यार था। वे गुरुदेव के नाम से लोकप्रिय थे। भारत आकर गुरुदेव ने फिर से लिखने का काम शुरू किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक बांग्ला कवि, कहानीकार, गीतकार, संगीतकार, नाटककार, निबंधकार और चित्रकार थे। उन्हें अपनी कविता संग्रह गीतांजलि के लिए 1913 में साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। बाद में गीतांजलि का जर्मन, फ्रेंच, जापानी, रूसी आदि विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हुआ और टैगोर की ख्याति दुनिया के कोने-कोने में फैल गई। टैगोर ने बांग्ला साहित्य में नए गद्य और छंद तथा लोकभाषा के उपयोग की शुरुआत की और इस प्रकार शास्त्रीय संस्कृत पर आधारित पारंपरिक प्रारूपों से उसे मुक्ति दिलाई। भारत में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 1880 के दशक में कविताओं की अनेक पुस्तकें प्रकाशित की तथा मानसी (1890) की रचना की। यह संग्रह उनकी प्रतिभा की परिपक्वता का परिचायक है। इसमें उनकी कुछ सर्वश्रेष्ठ कविताएँ शामिल हैं, जिनमें से कई बांग्ला भाषा में अपरिचित नई पद्य शैलियों में हैं। साथ ही इसमें बंगालियों पर कुछ सामाजिक और राजनीतिक व्यंग्य भी हैं।

Copyright Akhil Murti

वे एकमात्र कवि हैं जिनकी दो रचनाएँ दो देशों का राष्ट्रगान बनीं। भारत का राष्ट्रगान जन गण मन और बांग्लादेश का राष्ट्रीय गान आमार सोनार बांग्ला गुरुदेव की ही रचनाएँ हैं। वे वैश्विक समानता और एकांतिकता के पक्षधर थे। ब्रह्मसमाजी होने के बावजूद उनका दर्शन एक अकेले व्यक्ति को समर्पित रहा। चाहे उनकी ज्यादातर रचनाएँ बांग्ला में लिखी हुई हों वह एक ऐसे लोक कवि थे जिनका केंद्रीय तत्व अंतिम आदमी की भावनाओं का परिष्कार करना था। वह मनुष्य मात्र के स्पन्दन के कवि थे। टैगोर की कविताओं की पांडुलिपि को सबसे पहले विलियम रोथेनस्टाइन ने पढ़ा था और वे इतने मुग्ध हो गए कि उन्होंने अंग्रेजी कवि यीट्स से संपर्क किया और पश्चिमी जगत के लेखकों, कवियों, चित्रकारों और चिंतकों से टैगोर का परिचय कराया। बाद में यीट्स ने ही अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका लिखी। एक ऐसे कलाकार जिनकी रगों में शाश्वत प्रेम की गहरी अनुभूति है, एक ऐसा नाटककार जिसके रंगमंच पर सिर्फ दुःखद ही जिंदा नहीं है, अपितु उसमें मनुष्य की गहरी जिजीविषा भी है, एक ऐसा कथाकार जो अपने आस-पास से कथालोक चुनता है जिसमें वह आदमी के अंतिम गंतव्य की तलाश भी करता है कुछ ऐसी ही छवि रबीन्द्रनाथ ठाकुर की थी।

सियालदह और शजादपुर स्थित अपनी खानदानी जायदाद के प्रबंधन के लिए 1891 में टैगोर ने 10 वर्ष तक पूर्वी बंगाल (वर्तमान बांग्लादेश) में रहे, वहाँ वह अक्सर पद्मा नदी (गंगा नदी) पर एक हाउस बोट में ग्रामीणों के निकट संपर्क में रहते थे और उन ग्रामीणों की निर्धनता व पिछड़ेपन के प्रति टैगोर की संवेदना उनकी बाद की रचनाओं का मूल स्वर बनी। उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, जिनमें 'दीन-हीनों' का जीवन और उनके दुख वर्णित हैं, 1890 के बाद की हैं और उनकी मार्मिकता में हल्की-सी विडंबना की पुट है। उनकी कहानियों में सूर्य, वर्षा, नदियाँ और नदी किनारे के सरकंडे, वर्षा ऋतु का आकाश, छायादार गाँव, वर्षा से भरे अनाज के प्रसन्न खेत मिलते हैं। उनके साधारण लोग कहानी खत्म होते-होते असाधारण मनुष्यों में बदल जाते हैं।

1901 में टैगोर ने पश्चिम बंगाल के ग्रामीण क्षेत्र में स्थित शांतिनिकेतन में एक प्रायोगिक विद्यालय की स्थापना की। यहाँ उन्होंने भारत और पश्चिम परंपराओं के सर्वश्रेष्ठ को मिलाने का प्रयास किया। वह विद्यालय में ही स्थायी रूप से रहने लगे और 1921 में यह विश्व भारती विश्वविद्यालय बन गया।

टैगोर ने लंबी अवधि भारत से बाहर बिताई वह यूरोप, अमेरिका और पूर्वी एशिया के देशों में व्याख्यान देते व काव्य पाठ करते रहे और भारत की स्वतंत्रता के मुखर प्रवक्ता बन गए। हालाँकि टैगोर के उपन्यास उनकी कविताओं और कहानियों जैसे असाधारण नहीं हैं, लेकिन वे भी उल्लेखनीय हैं। इनमें सबसे ज्यादा लोकप्रिय हैं- गोरा (1990) और घरे-बाइरे (1916; घर और बाहर)। 1920 के दशक के उत्तरार्द्ध में टैगोर ने चित्रकारी शुरू की और कुछ ऐसे चित्र बनाएं, जिन्होंने उन्हें समकालीन अग्रणी भारतीय कलाकारों में स्थापित कर दिया। वे कवि-दार्शनिक दृष्टि से पूरी तरह मानवतावादी थे। वैश्विक शांति, भाईचारे और आध्यात्मवाद के प्रति लगाव उनके रचनात्मक कार्यों में बखूबी झलकता है। उन्होंने धर्म में संप्रदायवाद का विरोध किया और वे विज्ञान के विध्वंसात्मक प्रयोग से भी काफी आहत थे। उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता से प्रेरित भौतिकतावाद का विरोध किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृत्यु 7 अगस्त, 1941 को कलकत्ता में हुई।

अय्यनकाली *(Ayyankali)*

अय्यनकाली का जन्म त्रिवेंद्रम के त्रावणकोर में सन् 1863 में हुआ। वह एक नीची जाति समझे जाने वाले पुलय परिवार में पैदा हुए थे। वह अनपढ़ थे। वह जातिवाद के खिलाफ के आंदोलनों के क्षेत्र में अग्रणी थे। अय्यनकाली समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था को मानवता के विरुद्ध अपराध समझते थे। उन्होंने दलितों के खिलाफ हो रहे अन्याय का पुरजोर विरोध किया और उनके अधिकारों के लिए संघर्ष किया।

उनके समय में निचली जाति के लोगों को बैलगाड़ी की सवारी करने की अनुमति नहीं थी। अय्यनकाली के संघर्ष की शुरुआत इस अधिकार को लेकर हुई। वे स्वयं बैलगाड़ी लेकर निकले और अन्य लोगों को प्रेरित किया। उन पर शारीरिक हमले हुये लेकिन वे हमले उनके साहस और विश्वास को नहीं डिगा सके।

अय्यनकाली ने दलित बच्चों के लिए स्कूल में अध्ययन की माँग की। वे शिक्षा को बहुत महत्त्व देते थे। वेंगानूर में उच्च जाति के लोगों द्वारा एक स्कूल स्थापित किया गया था जिसमें दलित बच्चों के पढ़ने पर उसमे आग लगा दी गई। इसकी प्रतिक्रिया में 1907 में उन्होंने वेंगानूर में एक साल से भी अधिक समय तक चली हड़ताल का नेतृत्व किया। उन्होंने कृषि कामगारों की माँगें उठायीं। उनकी प्रमुख मांगों में (क) चाय की दुकानों में दलितों को नारियल के गोले में चाय दिए जाने का विरोध (ख) दलित बच्चों के लिए शिक्षा का अधिकार (ग) काम के घंटे के दौरान श्रमिकों के लिए आराम का समय (घ) नकदी भुगतान द्वारा मजदूरी प्रणाली का प्रतिस्थापन आदि थीं। अंततः सत्ता को झुकना पड़ा और निचली जातियों की इन माँगों को स्वीकार कर लिया गया।

अय्यनकाली द्वारा शुरू किए गये मुक्ति अभियानों की कड़ी में 'कल्लुमाला संघर्ष' बेहद महत्वपूर्ण है। केरलीय समाज ने जातिपरक पहचान बनाये रखने के लिए हर जाति-समुदाय के लिए एक खास तरह का पहनावा निश्चित कर रखा था। अछूत स्त्रियाँ और पुरुष कमर से ऊपर और घुटने से नीचे का हिस्सा ढक नहीं सकते थे। अय्यनकाली इस बाध्यता को गुलामी का सबूत मानते

Copyright - Akhil Murti

थे। पुलय स्त्रियाँ कमर से ऊपर का हिस्सा ढकने के लिए मनकों वाली माला पहना करती थीं। इसे 'कल्लुमाला' कहा जाता था। स्त्रियों को ढेर सारी मालाएँ लादनी पड़ती थीं तब कहीं जाकर अंग-विशेष ढक पाते थे। इसके अलावा वे चूड़ियाँ और कानों मे लोहे के छल्ले पहनती थीं। कल्लुमाला संघर्ष 1914 में शुरू हुआ। अय्यनकाली ने अपने समुदाय की स्त्रियों से कहा कि वे गुलामी के प्रतीकों को उतार फेंकें। दक्षिण त्रावणकोर की पुलय स्त्रियों ने ऐसी मालाएँ फेंक दीं और उपरिवस्त्र (ब्लाउज) पहनना शुरू कर दिया। उनके प्रयासों के माध्यम से जनता में दलित महिलाओं के लिए उनके तन को ढकने के लिए अनुमति दी गई। अय्यनकाली के आह्वान पर पुलय पुरुषों ने चप्पल-जूते पहनना और छाते का इस्तेमाल आरम्भ कर दिया। सवर्ण समझी जाने वाली जातियों के विरोध के बावजूद यह आंदोलन बेहद सफल रहा।

उन दिनों दलितों को अदालत के बरामदे में भी पाँव रखने का अधिकार नहीं था, लिहाजा उनकी सुनवाइयाँ बाहर ही होती थीं। परम्परा यह थी कि अदालत में छुट्टी होने के बाद शाम को न्यायाधीश और अन्य कर्मचारी कोर्ट के अहाते के पेड़ के नीचे खड़े होते थे और वहीं खड़े-खड़े सुनवाइयाँ करते तथा निर्णय सुनाते थे। वादी-प्रतिवादी से जज का सीधा संवाद कभी नहीं होता था। अदालत का चपरासी सन्देश वाहक का काम करता था। पुलयों को एक निश्चित दूरी बनाकर रखनी पड़ती थी। इस व्यवस्था में अक्सर उनके साथ अन्याय होता था। सुनवायी के इस तरीके में अपमान और अवहेलना अपरिहार्य थी। अय्यनकाली को स्वाभाविक रूप से यह व्यवस्था असहनीय लगती थी। उन्होंने इसीलिए एक वैकल्पिक न्याय-व्यवस्था शुरू की। साधुजन परिपालन संघम् के तत्वाधान में दलितों के लिए 'सोशल कोर्ट' या 'कम्युनिटी कोर्ट' की स्थापना हुई। संघम् की तमाम शाखाओं में कोर्ट की प्रशाखाएँ स्थापित की गयी थीं। उनके प्रयासों में अपने समकालीन श्री नारायण गुरु और अन्य सामाजिक सुधारकों का समर्थन प्राप्त हुआ। अय्यनकाली के प्रयासों से 1900 में दलितों को सार्वजनिक सड़कों पर चलने की आजादी दी गई और 1914 में दलित बच्चों के लिए स्कूलों में शामिल होने की अनुमति दी गई।

अय्यनकाली की नेतृत्व क्षमता को देखते हुए तत्कालीन शासकों द्वारा 1910 में उन्हें त्रावणकोर विधान सभा के लिए नामित किया गया था। अय्यनकाली का निधन 18 जून, 1941 को हुआ।

पेरियार ई. वी. रामास्वामी नायकर *(Periyar E.V. Ramaswami Naikar)*

पेरियार ई.वी. रामास्वामी नायकर का जन्म 17 नवंबर, 1879 को तमिलनाडु के इरोड में एक सम्पन्न, धार्मिक, परम्परावादी व धनी परिवार में हुआ था। इनका पूरा नाम इरोड वेंकट नायकर रामास्वामी था। बचपन से ही वे उपदेशों में कही बातों की प्रामाणिकता पर सवाल उठाते रहते थे। हिन्दू महाकाव्यों तथा पुराणों में कही बातों की परस्पर विरोधी तथा बेतुकी बातों का माखौल भी वे उड़ाते रहते थे। उन्होंने हिन्दू समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था का भी बहिष्कार किया। पढ़ाई पूरी करने के बाद पेरियार जी जान से सामाजिक सुधारों में जुट गये। अपार वैभव में पले रामास्वामी को किसी तरह की कमी नहीं थी परंतु कट्टरता के भयानक परिणामों को देख कर बचपन से ही नायकर के मन में हिन्दू रूढ़िवाद के प्रति आक्रोश उत्पन्न होने लगा। तमिल दलितों की पीड़ा का अहसास कर वह क्षुब्ध हो जाते थे। उन्हें लगता था कि उत्तर भारतीय ब्राह्मणों का सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक वर्चस्व ही दलितों की पीड़ा का मुख्य कारण है। इन बातों से दु:खी होकर पेरियार ने यह संकल्प लिया कि वह इस अन्याय को मिटा कर रहेंगे।

कांग्रेस पार्टी में शामिल होकर पेरियार ने स्वतंत्रता आंदोलनों में भाग लिया और दलितों के हितों की लड़ाई भी लड़ते रहे। उन्होंने 1923 ई. में वायकोम मन्दिरों में हरिजनों के प्रवेश को लेकर 'आत्म सम्मान' आन्दोलन चलाया। उन्होंने सामाजिक समानता पर बल दिया, मनुस्मृति को जलाया तथा पुरोहितों के बिना विवाह करवाए। उन्होंने 'कुदी आरसु' नामक ग्रंथ लिखा। ईश्वर विरोधी समिति के निमंत्रण पर वे रूस गए तथा लौटने के बाद वे काँग्रेस से अलग हो गए। 1926 में पेरियार ने न्याय पार्टी की सदस्यता ग्रहण कर ली। बाद में वे इसके अध्यक्ष भी बने। इस पार्टी के माध्यम से उन्होंने गैर-ब्राह्मणों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण की माँग की। उन्होंने द्रविड़ कड़गम् नाम के राजनैतिक-सामाजिक दल का गठन किया।

विनोबा भावे *(Vinoba Bhave)*

विनोबा भावे (11 सितंबर, 1895-15 नवम्बर 1982) महात्मा गांधी के आदरणीय अनुयायी, भारत के जाने-माने समाज सुधारक एवं 'भूदान यज्ञ' नामक आन्दोलन के संस्थापक थे। उनकी समस्त जिंदगी साधु संन्यासियों जैसी रही, इसी कारणवश वे एक संत के तौर पर प्रख्यात हुए। विनोबा भावे अत्यंत विद्वान एवं विचारशील व्यक्ति थे। महात्मा गांधी के इस परम शिष्य ने वेद, वेदांत, गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल आदि अनेक धार्मिक ग्रंथों सहित अर्थशास्त्र, राजनीति और दर्शन के आधुनिक सिद्धांतों का भी गहन अध्ययन गया। उन्हें कई भाषाओं का भी ज्ञान था।

गुजरात में जन्मे विनोबा भावे का मूल नाम विनायक नरहरि भावे था। उन्होंने 'गांधी आश्रम' में शामिल होने के लिए 1916 में हाई स्कूल की पढ़ाई बीच में ही छोड़ दी। गांधी जी के उपदेशों ने भावे को भारतीय ग्रामीण जीवन के सुधार के लिए एक तपस्वी

Copyright Akhil Murti

के रूप में जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने 1916 में मात्र 21 वर्ष की आयु में गृहत्याग दिया और साधु बनने के लिए काशी नगरी की ओर रुख किया। वे काशी नगरी में वैदिक पंडितों के सानिध्य में शास्त्रों के अध्ययन में जुट गए। बाद में महात्मा गांधी से मुलाकात के बाद तो जीवन भर के लिए वे उन्हीं के प्रति समर्पित हो गए। आजादी की लड़ाई में वह कई बार जेल गये। 11 अक्टूबर 1940 को गांधी द्वारा व्यक्तिगत सत्याग्रह के प्रथम सत्याग्रही के तौर पर विनोबा को चुना गया। प्रसिद्धि की चाहत से दूर होने के बावजूद विनोबा इस सत्याग्रह के कारण बेहद मशहूर हो शुरू किया। विनोबा भावे ने गीता, कुरान, बाइबल जैसे धर्म ग्रंथों के अनुवाद के साथ ही इनकी आलोचनाएं भी की। विनोबा भावे भागवत गीता से बहुत ज्यादा प्रभावित थे। वो कहते थे कि गीता उनके जीवन की हर सांस में है। उन्होंने गीता को मराठी भाषा में अनुवादित भी किया था।

विनोबा भावे का 'भूदान आंदोलन' का विचार 1951 में जन्मा। जब वह आन्ध्र प्रदेश के गांवों में भ्रमण कर रहे थे, भूमिहीन अस्पृश्य लोगों या हरिजनों के एक समूह के लिए जमीन मुहैया कराने की अपील के जवाब में एक जमींदार ने उन्हें एक एकड़ जमीन देने का प्रस्ताव किया। इसके बाद वह गाँव-गाँव घूमकर भूमिहीन लोगों के लिए भूमि का दान करने की अपील करने लगे और उन्होंने इस दान को गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत से संबंधित कार्य बताया। भावे के अनुसार, यह भूमि सुधार कार्यक्रम हृदय परिवर्तन के तहत होना चाहिए। जमीन के इस बँटवारे से बाद में उन्होंने लोगों को 'ग्रामदान' के लिए प्रोत्साहित किया, जिसमें ग्रामीण लोग अपनी भूमि को एक साथ मिलाने के बाद उसे सहकारी प्रणाली के अंतर्गत पुनर्गठित करते।

विनोबा को 1958 में प्रथम रेमन मैग्सेसे पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 1975 में पूरे वर्ष भर अपने अनुयायियों के राजनीतिक आंदोलनों में शामिल होने के मुद्दे पर भावे ने मौन व्रत रखा। सन 1979 के एक आमरण अनशन के परिणामस्वरूप सरकार ने समूचे भारत में गो-हत्या पर निषेध लगाने हेतु कानून पारित करने का आश्वासन किया। उनका 15 नवम्बर 1982, वर्धा, महाराष्ट्र में निधन हो गया। भारत सरकार ने उन्हें देश के सर्वोच्च नागरिक सम्मान भारत रत्न से 1983 में मरणोपरांत सम्मानित किया।

जे. कृष्णमूर्ति *(Jiddu Krishnamurti)*

जे. कृष्णमूर्ति का जन्म तमिलनाडु के एक छोटे-से नगर में निर्धन ब्राह्मण परिवार में 12 मई, 1895 को हुआ था। बचपन से ही इनमें कुछ असाधारणता थी। 1912 में उन्हें शिक्षा के लिए इंग्लैंड भेजा गया और 1921 तक वे वहाँ रहे। वे एनी बेसेंट की थियोसोफिकल सोसाइटी से जुड़े रहे और एनी बेसेंट का उन्हें बहुत स्नेह मिला। 1927 में एनी बेसेंट ने उन्हें 'विश्व गुरु' घोषित किया। किन्तु दो वर्ष बाद ही कृष्णमूर्ति ने थियोसोफिकल विचारधारा से नाता तोड़कर अपने नये दृष्टिकोण का प्रतिपादन आरम्भ कर दिया। अब उन्होंने अपने स्वतंत्र विचार देने शुरू कर दिये। कृष्णमूर्ति ने धर्म, अध्यात्म, दर्शन, मनोविज्ञान व शिक्षा को अपनी अंतर्दृष्टि के माध्यम से नये आयाम दिए। जिद्दू कृष्णमूर्ति की इस नई विचारधारा की ओर समाज का बौद्धिक वर्ग आकृष्ट हुआ और लोग पथ-प्रदर्शन के लिए उनके पास आने लगे थे। उन्होंने अपने जीवन काल में अनेक शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की, जिनमें दक्षिण भारत का 'ऋषिवैली' स्कूल विशेष उल्लेखनीय है। भारत के इस महान व्यक्तित्व की 91 वर्ष की आयु में 17 फरवरी, 1986 ई. में मृत्यु हो गई।

जे. कृष्णमूर्ति ने सदैव ही इस बात पर बल दिया था कि प्रत्येक मनुष्य को मानसिक क्रांति की आवश्यकता है पर ऐसी क्रांति किन्हीं बाह्य कारक से सम्भव नहीं है। व्यक्तित्व के पूर्ण रूपान्तरण से ही विश्व से संघर्ष और पीड़ा को मिटाया जा सकता है। हम अन्दर से अतीत का बोझ और भविष्य का भय हटा दें और अपने मस्तिष्क को मुक्त रखें। उन्होंने कहा- याद रखें कि मेरा कोई शिष्य नहीं हैं, क्योंकि गुरु तो सच को दबाते हैं। सच तो स्वयं तुम्हारे भीतर है। सच को ढूँढने के लिए मनुष्य को सभी बंधनों से स्वतंत्र होना आवश्यक है। कृष्णमूर्ति ने दुनिया के अनेक भागों में भ्रमण किया और लोगों को शिक्षा दी और लोगों से शिक्षा ली। उन्होंने पूरा जीवन एक शिक्षक और छात्र की तरह बिताया। मनुष्य के सर्वप्रथम मनुष्य होने से ही मुक्ति की शुरुआत होती है, किंतु आज का मानव हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम, अमेरिकी या अरबी है। उन्होंने कहा था कि संसार विनाश की राह पर आ चुका है और इसका हल तथाकथित धार्मिकों और राजनीतिज्ञों के पास नहीं है। वे कहते हैं कि "गंगा बस उतनी नहीं है-जो ऊपर-ऊपर हमें नजर आती है। गंगा तो पूरी की पूरी नदी है, शुरू से आखिर तक, जहाँ से उद्गम होता है, उस जगह से वहाँ तक, जहां यह सागर से मिलती है। हमारे होने में भी कई चीजें शामिल हैं, और हमारी ईजादें सूझें हमारे अंदाजे विश्वास, पूजा-पाठ, मंत्र-ये सब के सब तो सतह पर ही हैं। इनकी हमें जांच-परख करनी होगी, और तब इनसे मुक्त हो जाना होगा- इन सबसे, सिर्फ उन एक या दो विचारों, एक या दो विधि-विधानों से ही नहीं, जिन्हें हम पसंद नहीं करते।"

कृष्णमूर्ति अनुभव को बहुत महत्त्व देते थे। वे कहते हैं कि पहली चीज यह है कि हम जो हैं उसे वैसा का वैसा ही पहचानें और प्रत्येक क्षण के अवलोकन में स्वयं को इस प्रकार अनुशासित करें जैसी की अपनी इच्छाओं को खुद ही देखें। जब हम निरंतर जागरूकता का अनुशासन स्थापित कर लेते हैं तो उन सब चीजों को जिनके बारे में सोचते, महसूस करते या अमल में लाते हैं उनका निरंतर अवलोकन हमें संपूर्णता की ओर ले जाता है। हम दमन, ऊब और भ्रम से बाहर आकर संपूर्णता की ओर बढ़ते हैं। जीवन

Copyright – Akhil Murti

का लक्ष्य कुछ ऐसा नहीं जो कि बहुत दूर हो, जो कि दूर कहीं भविष्य में उपलब्ध करना है अपितु पल पल की, प्रत्येक क्षण की वास्तविकता, हर पल का यथार्थ जानने में है जो अभी अपनी अनन्तता सहित हमारे सामने साक्षात ही है।

कृष्णमूर्ति कहते हैं, 'जब आप खुद को ही नहीं जानते, तो प्रेम व संबंध को कैसे जान पाएंगें? 'हम रूढ़ियों के दास हैं। भले ही हम खुद को आधुनिक समझ बैठें, मान लें कि बहुत स्वतंत्र हो गये हैं, परंतु गहरे में देखें तो हैं हम रूढ़िवादी ही। इसमें कोई संशय नहीं है क्योंकि छवि-रचना के खेल को आपने स्वीकार किया है और परस्पर संबंधों को इन्हीं के आधार पर स्थापित करते हैं। यह बात उतनी ही पुरातन है जितनी कि ये पहाड़ियां। यह हमारी एक रीति बन गई है। हम इसे अपनाते हैं, इसी में जीते हैं, और इसी से एक-दूसरे को यातनाएं देते हैं। तो क्या इस रीति को रोका जा सकता है?

किसी मनुष्य की मौत से अलग, अंततः किसी पेड़ की मौत बहुत ही खूबसूरत होती है। किसी रेगिस्तान में एक मृत वृक्ष, उसकी धारियों वाली छाल, सूर्य की रोशनी और हवा से चमकी हुई उसकी देह, स्वर्ग की ओर उन्मुख नंगी टहनियाँ और तने आश्चर्यजनक दृश्य होते हैं। सैकड़ों साल पुराना एक विशाल पेड़ बागड़ बनाने, फर्नीचर या घर बनाने या यूँ ही बगीचे की मिट्टी में खाद की तरह इस्तेमाल करने के लिए मिनटों में काट कर गिरा दिया जाता है। सौन्दर्य का ऐसा साम्राज्य मिनटों में नष्ट हो जाता है। मनुष्य चरागाह, खेती और निवास के लिए बस्तियाँ बनाने के लिए जंगलों में गहरे से गहरे प्रवेश कर उन्हें नष्ट कर चुका है। जंगल और उनमें बसने वाले जीव लुप्त होने लगे हैं। पर्वत श्रृंखलाओं से घिरी ऐसी घाटियाँ जो शायद धरती पर सबसे पुरानी रही हों, जिनमें कभी चीते, भालू और हिरन दिखा करते थे अब पूरी तरह खत्म हो चुके हैं, बस आदमी ही बचा है जो हर तरफ दिखाई देता है। धरती की सुन्दरता तेजी से नष्ट और प्रदूषित की जा रही है। कारें और ऊँची बहुमंज़िला इमारतें ऐसी जगहों पर दिख रही हैं जहां उनकी उम्मीद भी नहीं की जा सकती थी। जब आप प्रकृति और चहुं ओर फैले वृहद आकाश से अपने सम्बन्ध खो देते हैं, आप आदमी से भी रिश्ते खत्म कर चुके होते हैं। दुनिया को बेहतर बनाने के लिए जरूरी है यथार्थवादी और स्पष्ट मार्ग पर चलना। आपके भीतर कुछ भी नहीं होना चाहिए, तब आप एक साफ और सुस्पष्ट आकाश होने के लिए तैयार हों। धरती का हिस्सा नहीं, आप स्वयं आकाश हैं।

जे. कृष्णमूर्ति की शिक्षा जो उनके गहरे ध्यान, सही ज्ञान और श्रेष्ठ व्यवहार की उपज है ने दुनिया के तमाम दार्शनिकों, धार्मिकों और मनोवैज्ञानिकों को प्रभावित किया। उनका कहना था कि आपने जो कुछ भी परम्परा, देश और काल से जाना है उससे मुक्त होकर ही आप सच्चे अर्थों में मानव बन पाएँगे। जीवन का परिवर्तन सिर्फ इसी बोध में निहित है कि आप स्वतंत्र रूप से सोचते हैं कि नहीं और आप अपनी सोच पर ध्यान देते हैं कि नहीं।

जे. कृष्णमूर्ति अपनी वार्ताओं तथा विचार-विमर्शों के माध्यम से अपनी शिक्षा पहुँचाते हैं। उनके लिए प्राथमिक शिक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है। मानव मन में मौलिक परिवर्तन तभी संभव होता है, जब बच्चों की विभिन्न प्रकार की कार्यकुशलता तथा विषयों का प्रशिक्षण देने के साथ-साथ उसे स्वयं अपनी विचारणा तथा क्रियाशीलता के प्रति जागरूक होने की क्षमता भी प्रदान की जाती है। यह जागरूकता बच्चों के अंदर मनुष्य के साथ, प्रकृति के साथ तथा मानव-निर्मित यंत्रों के साथ सही संबंध को परिपक्व करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। जे. कृष्णमूर्ति अपने शैक्षिक विचारों के माध्यम से शिक्षक और शिक्षार्थी को यह उत्तरदायित्व सौंपते हैं कि वे एक अच्छे समाज का निर्माण करें, जिसमें सभी मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक जी सकें, शांति और सुरक्षा में हिंसा के बिना। क्योंकि आज के विद्यार्थी ही कल के भविष्य हैं।

कृष्णमूर्ति आंतरिक अनुशासन पर बल देते हैं। बाह्य अनुशासन मन को मूर्ख बना देता है। यह आप में अनुकूलता और नकल करने की प्रवृत्ति लाता है। परंतु यदि आप अवलोकन के द्वारा सुन करके, दूसरों की सुविधाओं का ध्यान करके, विचार के द्वारा अपने को अनुशासित करते हैं, तो इससे व्यवस्था आती है। जहाँ व्यवस्था होती है, वहां स्वतंत्रता सदैव रहती है। यदि आप ऐसा करने में स्वतंत्र नहीं हैं तो आप व्यवस्था नहीं कर सकते। व्यवस्था ही अनुशासन है।

जे. कृष्णमूर्ति के मौलिक दर्शन ने पारंपरिक, गैरपरंपरावादी विचारकों, दार्शनिकों, शीर्ष शासन-संस्था प्रमुखों, भौतिक और मनोवैज्ञानियों और सभी धर्म, सत्य और यथार्थपरक जीवन में प्रवृत्त सुधिजनों को आकर्षित किया और उनकी स्पष्ट दृष्टि से सभी आलोकित हुए हैं। उन्होंने भारत, इंग्लैंड और अमरीका में विद्यालय भी स्थापित किये जिनके बारे में उनका दृष्टिबोध था कि शिक्षा में केवल शास्त्रीय बौद्धिक कौशल ही नहीं वरन मन-मस्तिष्क को समझने पर भी जोर दिया जाना चाहिये। जीवन यापन और तकनीकी कुशलता के अतिरिक्त जीने की कला कुशलता भी सिखाई जानी चाहिए।

उन्होंने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक चेतना दो भिन्न चीजें नहीं, "पिण्ड में ही ब्रह्मांड है।" उन्होंने बताया कि वास्तव में हमारे भीतर ही पूरी मानव जाति पूरा विश्व प्रतिबिम्बित है। उन्होंने प्रकृति और परिवेश से मनुष्य के गहरे रिश्ते और प्रकृति और परिवेश से अखण्डता की बात की। उनकी दृष्टि मानव निर्मित सारे बँटवारों, दीवारों, विश्वासों, दृष्टिकोणों से परे जाकर सनातन विचार के तल पर, क्षणमात्र में जीने का बोध देती है। अपने कार्य के बारे में उन्होंने कहा "यहाँ किसी विश्वास की कोई मांग या अपेक्षा नहीं है, यहाँ अनुयायी नहीं है, पंथ संप्रदाय नहीं है, व किसी भी दिशा में उन्मुख करने

Copyright Akhil Murti

के लिए किसी तरह का फुसलाना प्रेरित करना नहीं है, और इसलिए हम एक ही तल पर, एक ही आधार पर और एक ही स्तर पर मिल पाते हैं, क्योंकि तभी हम सब एक साथ मिलकर मानव जीवन के अद्भुत घटनाक्रम का अवलोकन कर सकते हैं। उनके साहित्य में सार्वजनिक वार्ताएं, प्रश्नोत्तर, परिचर्चाएं, साक्षात्कार, परस्पर संवाद, डायरी और उनका खुद का लेखन शामिल है।

जे. कृष्णमूर्ति अपने शैक्षिक विचारों के माध्यम से शिक्षक और शिक्षार्थी को यह उत्तरदायित्व सौंपते हैं कि वे एक अच्छे समाज का निर्माण करें, जिसमें सभी मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक जी सकें, शांति और सुरक्षा में हिंसा के बिना। क्योंकि आज के विद्यार्थी ही कल के भविष्य हैं।

ठक्कर बापा *(Thakkar Bapa)*

अमृतलाल विट्ठलदास ठक्कर या जिन्हें हम प्यार से 'ठक्कर बापा' के नाम से जानते हैं उनका जन्म 29 नवम्बर, 1869 को गुजरात के भावनगर जिले में एक मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। ठक्कर बापा ने 1879 से 1882 तक एक एंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल में पढ़ाई की और 1886 में मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। बाद में उन्हें इंजीनियरिंग की पढ़ाई करने के लिए पुणे भेज दिया गया जहाँ उन्होंने गोपाल कृष्ण गोखले और महादेव गोविंद रानाडे जैसी विभूतियों को जाना। बापा ने 1890 में इंजीनियरिंग की परीक्षा पास करके एल सी आई यानी लाईसेंशिएट ऑफ सिविल इंजीनियरिंग की उपाधि हासिल की। बापा को 1899 में पूर्वी अफ्रीका के देश युगांडा में रेलवे लाइन बिछाने के काम में नौकरी का प्रस्ताव मिला। वहाँ से लौटकर बापा ने महाराष्ट्र के सांगली में 1903 से 1905 तक स्टेट इंजीनियर की नौकरी की। वहाँ से बापा मुंबई की नगरपालिका द्वारा चेम्बूर इलाके में नियुक्त किये गये। यहाँ से बापा के जीवन में जो मोड़ आया, उसने उनके जीवन की राह बदल दी।

बापा की समाज सेवा का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा आदिवासियों के उत्थान के लिए किये गये कार्यों को माना जा सकता है। उनकी समाज सेवा में हरिजनों के सामाजिक कल्याण के लिए किये गये कार्य और तीसरे हिस्से में अकाल पीड़ितों की हरसंभव सहायता के कार्यों को रख सकते हैं।

आदिवासियों के लिए बापा का सेवा कार्य वर्तमान गुजरात राज्य के तत्कालीन पंचमहल जिले में शुरू हुआ। इसी जिले के झालोद-दाहोद इलाके में 1919 और 1922 में भयंकर अकाल पड़ा था। अकाल के दौरान मानवीय मदद पहुँचाने का काम बापा पहले भी कर चुके थे। बापा एक बार फिर राहत सहायता सामग्री लेकर इन अकाल ग्रस्त इलाकों में पहुँचे। लेकिन इस बार उनका वास्ता वहाँ रहने वाले 'भील' आदिवासियों से हुआ। इससे बापा को विकास की प्रक्रिया से पीछे छूट चुके इस समुदाय की समस्यायें समझने का एक व्यापक अवसर मिला। बापा को लगा कि इन भीलों का कल्याण स्थायी तौर पर शुरू हो सके, इसके लिए जरूरत है कि संस्थागत प्रकार के प्रयास हों नहीं तो यह समस्या इतनी जटिल है कि इसका व्यक्तिगत स्तर पर या फुटकर तरीके से मदद करके कल्याण संभव नहीं होगा। बापा का विचार था कि कुछ युवकों की मदद से इन भीलों को शिक्षित किया जाये और सभ्यता के आयामों से उन्हें क्रमशः परिचित कराया जाए। बापा ने एक योजना तैयार की जिसमें यह निश्चित किया गया कि करीब एक दर्जन ऐसे युवाओं की पहचान की जाए जो करीब तीन सालों तक यहीं के आदिवासी इलाकों में रहें और भीलों के कल्याण का काम करें। बापा ने इन युवाओं के द्वारा काम किये जाने वाले कार्यों की सूची बनाई। इनमें भील बच्चों की पढ़ाई, खेतीबाड़ी का काम सुधारने में मदद, सूदखोरों के मकड़जाल से भीलों को बाहर निकालने में मदद करना और सरकारी मुलाजिमों के शोषण से बचाने जैसे कार्य शामिल थे। बापा ने भीलों की आर्थिक मदद के लिए ऋण देने वाली समितियों, छोटे उद्योग धंधे जैसे कताई-बुनाई का कामकाज चलाने की व्यवस्था का भी प्रस्ताव रखा।

भील सेवा मंडल का मुख्य केंद्र दाहोद में बना कर बापा ने दस साल तक कठोर परिश्रम किया। इस मंडल के अध्यक्ष के तौर पर वह मंडल की गतिविधियों के सफल संचालन के लिए विभिन्न केंद्रों का नियमित दौरा करते और केंद्रों में आ रही समस्याओं को समझते और उन्हें दूर करने के लिए विचार विमर्श करते थे। इन केंद्रों पर दौरे के दौरान बापा दो चीजों का विशेष ख्याल रखते थे। एक समय का और दूसरा सफाई का। अगर वह कोई कागज का टुकड़ा यूं ही पड़े हुये देखते तो उसे स्वयं ही उठा कर कूड़े दान में डालते और दूसरे के लिए अनुकरणीय उदाहरण पेश करते और काम को समय पर पूरा करने में कोई कोताही नहीं बरतते थे। दाहोद में मंडल की गतिविधियों को विस्तार देने के बाद बापा ने झालोद पर अपना ध्यान केंद्रित किया। उन्होंने झालोद में 21 नवम्बर, 1923 को भील सेवा मंडल खोला। मंडल के कामों को व्यवस्थित रूप देने के बाद उन्होंने देश के बाकी हिस्सों में चल रहे आदिवासियों के कल्याण के काम की जानकारी लेने का मन बनाया। बापा ने 1926 के शुरूआती महीनों में छत्तीसगढ़ के रायपुर एवं मांडला जिलों और झारखंड एवं पश्चिम बंगाल के आदिवासी जिलों का दौरा किया। इस दौरान उन्होंने आदिवासियों की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं तथा रीति-रिवाजों का बारीकी से अध्ययन किया। बापा के इन अनुभवों को गांधी जी ने अपने अखबार नवजीवन में दो लेखों में प्रकाशित किया। बापा को 1932 में गांधी जी का आदेश मिला कि दिल्ली आकर हरिजन सेवक संघ का कामकाज संभालें।

Copyright - Akhil Murti

बापा के आदिवासियों के उत्थान के लिए किये गए कामों के अनुभवों को देखते हुए संविधान सभा ने आदिवासी समुदाय संबंधी राजनीतिक और सामाजिक ढांचे की पहचान के लिए एक उपसमिति बनाई। बापा ने मिजोरम की लुशाई पहाड़ियों की यात्रा ऐसे विपरीत समय में पूरी की जहाँ जाना असंभव ही जान पड़ता था। समिति की रिपोर्ट में अनुशंसा की गयी कि आदिवासियों के कल्याण के लिए भारत सरकार के कोष से खर्च हो। आदिवासियों के कल्याण के लिए उठाया गया यह कदम मील का पत्थर साबित हुआ।

उन दिनों गुजरात में अछूतों को 'अन्त्यज' पुकारा जाता था। गुजरात अन्त्यज सेवा मंडल की स्थापना 1923 में हुई और बापा इसे प्रथम अध्यक्ष के रूप में चुने गये। यह मंडल भी भील सेवा मंडल की तर्ज पर काम करता रहा। इस मंडल ने अपने शुरूआती दौर में अन्त्यजों के लिए करीब 30 पाठशालाएँ खुलवा दीं। उन दिनों अन्त्यजों का सेवा काम बहुत मुश्किल हुआ करता था। 1932 में जब गांधी जी के हरिजन सेवक संघ (जो कि पहले अस्पृश्यता निवारण संघ के रूप में जाना जाता था) की अध्यक्षता घनश्याम दास बिड़ला को सौंपी गई तो उन्होंने इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के एवज में मंत्री पद पर बापा को नियुक्त करने की मांग बापू से की। बापू के निर्देश पर बापा दिल्ली चले आये और यह कठिन जिम्मेदारी स्वीकार कर ली। वास्तव में हरिजन सेवा संघ का काम बापा के लिए नया नहीं था। कुछ महीनों में उन्होंने इसकी शाखाएँ करीब सभी राज्यों में स्थापित कर दीं। उन्होंने एक बार बापू को पत्र लिख कर पूछा कि क्या वह अस्पृश्यता निवारण के लिए देश के विभिन्न भागों का दौरा करेंगे। इस पर बापू ने उत्तर दिया- आपका यह विचार बड़ा अच्छा है। मुझे किस प्रकार और कहाँ-कहाँ जाना, होगा इसका कार्यक्रम तैयार करके भेज दें। बापा गांधी जी के साथ देश के दौरे पर निकल पड़े। करीब नौ महीने तक की इस यात्रा ने देश में अस्पृश्यता के विरोध का माहौल उत्पन्न कर दिया। 1932 से लेकर 1951 तक बापा ने हरिजन सेवक संघ का काम करते हुए देश के माथे से छुआछूत का कलंक मिटाने का भरसक प्रयास किया। बापा के प्रयासों से ही भारतीय आदिम जाति सेवक संघ की स्थापना 24 अक्टूबर, 1948 में दिल्ली में की गई।

ठक्कर बापा का काम अकाल, अछूतोद्धार और आदिवासी सेवा तक ही सीमित नहीं था। बापा अराजनीतिक व्यक्ति थे तब भी उन्होंने देशी राज्यों की जनता की आवाज उठाई। उन्होंने गांधी जी के गरीबी से लड़ने वाले महाअस्त्र चरखे और खादी के प्रयोग को प्रचारित करने का भी विशद कार्य किया। इसके अलावा उन्होंने ग्रामीण स्त्रियों और बच्चों के कल्याण के लिए अनेक कार्य किये। उन्होंने कस्तूरबा ट्रस्ट के मंत्री के तौर पर भी काम किया। 19 जनवरी, 1951 को इस महान सामाजिक कार्यकर्ता ने अंतिम सांस ली।

बाबा आम्टे *(Baba Āmte)*

विख्यात समाजसेवक बाबा आम्टे का जन्म 1914 ई. में वर्धा के निकट एक ब्राह्मण जागीरदार परिवार में हुआ था। उनका बचपन बहुत ही ठाट-बाट से बीता। बाबा आम्टे के मन में सबके प्रति समान व्यवहार और सेवा की भावना बचपन से ही थी। बाबा आम्टे ने नागपुर विश्वविद्यालय में कानून की पढ़ाई की और कई दिनों तक वर्धा में वकालत की। परंतु जब उनका ध्यान अपने क्षेत्र के लोगों की गरीबी की ओर गया तो वकालत छोड़कर वे समाज के पिछड़े समूहों की सेवा में लग गए।

1942 में भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान वे जेल गए। नेताओं के मुकदमे लड़ने के लिए अपने साथी वकीलों को संगठित किया और इन्हीं प्रयासों के कारण ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। लेकिन वरोरा में कीड़ों से भरे कुष्ठ रोगी को देखकर उनके जीवन की धारा बदल गई। उन्होंने अपना वकालती चोगा और सुख-सुविधा वाली जीवन शैली त्यागकर कुष्ठरोगियों और दलितों के बीच उनके कल्याण के लिए काम करना प्रारंभ कर दिया।

बाबा आम्टे ने कुष्ट रोग से पीड़ित लोगों की सेवा और सहायता का काम अपने हाथ में लिया। कुष्ठ रोगियों के लिए बाबा आम्टे ने सर्वप्रथम ग्यारह साप्ताहिक औषधालय स्थापित किए, फिर 'आनन्दवान' नामक संस्था की स्थापना की। उन्होंने कुष्ठ की चिकित्सा का प्रशिक्षण तो लिया ही, अपने शरीर पर कुष्ठ निरोधी औषधियों का परीक्षण भी किया। 1951 में ''आनन्दवन' की रजिस्ट्री हुई। सरकार से इस कार्य के विस्तार के लिए भूमि मिली। बाबा आम्टे के प्रयत्न से दो अस्पताल बने, विश्वविद्यालय स्थापित हुआ, एक अनाथालय खोला गया, नेत्रहीनों के लिए स्कूल बना और तकनीकी शिक्षा की भी व्यवस्था हुई। 'आनन्दवन' आश्रम अब पूरी तरह आत्मनिर्भर है और लगभग पाँच हजार व्यक्ति उससे आजीविका चला रहे हैं। बाबा आम्टे ने चंद्रपुर जिले (महाराष्ट्र) के वरोरा के निकट अपने इस आश्रम को आधी सदी से अधिक समय तक विकास के विलक्षण प्रयोगों की कर्मभूमि बनाए रखा। जीवनपर्यन्त कुष्ठरोगियों, आदिवासियों और मजदूर-किसानों के साथ काम करते हुए उन्होंने वर्तमान विकास के जनविरोधी चरित्र को समझा और वैकल्पिक विकास की क्रांतिकारी जमीन तैयार की। आनन्दवन की महत्ता चारों तरफ फैलने लगी, नए-नए रोगी आने लगे और ''आनन्दवन' का महामंत्र 'श्रम ही है श्रीराम हमारा' सर्वत्र गूँजने लगा। आज ''आनन्दवन'' में स्वस्थ, आनन्दमयी और कर्मयोगियों की एक बस्ती बस गई है। भीख माँगनेवाले श्रम करके पसीने की कमाई उपजाने लगे हैं। किसी समय 14 रुपये में शुरु हुआ ''आनन्दवन'' का बजट आज करोड़ों में है। आज 180 हेक्टेयर जमीन पर फैला ''आनन्दवन'' अपनी आवश्यकता की हर वस्तु स्वयं पैदा कर रहा है। बाबा आम्टे ने ''आनन्दवन'' के अलावा और भी कई कुष्ठरोगी सेवा संस्थानों जैसे, सोमनाथ, अशोकवन आदि की स्थापना की है जहाँ हजारों रोगियों की सेवा की जाती है और उन्हें रोगी से सच्चा कर्मयोगी बनाया जाता है।

Copyright Akhil Murti

बाबा आम्टे ने राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के लिए 1985 में कश्मीर से कन्याकुमारी तक और 1988 में असम से गुजरात तक दो बार भारत जोड़ो आंदोलन चलाया। नर्मदा घाटी में सरदार सरोवर बांध निर्माण और इसके फलस्वरूप हजारों आदिवासियों के विस्थापन का विरोध करने के लिए 1989 में बाबा आम्टे ने बांध बनने से डूब जाने वाले क्षेत्र में निजी बल (आंतरिक बल) नामक एक छोटा आश्रम बनाया।

बाबा आम्टे को उनके इन महान कामों के लिए बहुत सारे पुरस्कारों से भी सम्मानित किया गया। उन्हें मैग्सेसे अवार्ड, पद्मश्री, पद्मविभूषण, बिड़ला पुरस्कार, मानवीय हक पुरस्कार, महात्मा गांधी पुरस्कार के साथ-साथ और भी कई पुरस्कारों से नवाजा गया। उनका 9 फरवरी, 2008 को आनन्दवन में निधन हो गया। बाबा आम्टे के पुत्र डॉ. प्रकाश और पुत्रवधु डॉ. मंदाकिनी आम्टे भी उनके कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। इस आम्टे दंपती को सामुदायिक नेतृत्व के लिए प्रतिष्ठित 'रेमन मैग्सेसे पुरस्कार' के लिए भी चुना गया।

पंडिता रमाबाई *(Pandita Ramabai)*

प्रख्यात विदुषी समाजसुधारक और भारतीय नारियों को उनकी पिछड़ी हुई स्थिति से ऊपर उठाने के लिए समर्पित पंडिता रमाबाई का जन्म 5 अप्रैल, 1858 ई. में मैसूर रियासत में हुआ था। उनके पिता 'अनंत शास्त्री' विद्वान और स्त्री-शिक्षा के समर्थक थे।

रमाबाई असाधारण प्रतिभावान थी। अपने पिता से संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करके 12 वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 20 हजार श्लोक कंठस्थ कर लिए थे। देशाटन के कारण मराठी के साथ-साथ कन्नड़, हिन्दी, तथा बांग्ला भाषाएँ भी सीख लीं। संस्कृत के ज्ञान के लिए रमाबाई को **सरस्वती** और **पंडिता** की उपाधियाँ प्राप्त हुई। तभी से वे पंडिता रमाबाई के नाम से जानी गई।

22 वर्ष की उम्र में रमाबाई कोलकाता पहुँची। उन्होंने बाल विधवाओं की दयनीय दशा सुधारने का बीड़ा उठाया। उनके संस्कृत ज्ञान और भाषणों से बंगाल के समाज में हलचल मच गई। भाई की मृत्यु के बाद रमाबाई ने 'विपिन बिहारी' नामक अछूत जाति के एक वकील से विवाह किया, परन्तु हैजे की बीमारी में वह भी चल बसा। अछूत से विवाह करने के कारण रमाबाई को कट्टरपंथियों के आक्रोश का सामना करना पड़ा और वह पूना आकर स्त्री-शिक्षा के काम में लग गई। उनकी स्थापित संस्था आर्य महिला समाज की शीघ्र ही महाराष्ट्र भर में शाखाएँ खुल गई।

अंग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पंडिता रमाबाई 1883 ई. में इंग्लैण्ड गई। वहाँ दो वर्ष तक संस्कृत की प्रोफेसर रहने के बाद वे अमेरिका पहुँचीं। उन्होंने इंग्लैंड के ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। अमेरिका में उनके प्रयत्न से **रमाबाई एसोसिएशन** बना जिसने भारत के विधवा आश्रम का 10 वर्ष तक खर्च चलाने का जिम्मा लिया। इसके बाद वे 1889 में भारत लौटीं और विधवाओं के लिए **शारदा सदन** की स्थापना की। बाद में **कृपा सदन** नामक एक और महिला आश्रम बनाया।

पंडिता रमाबाई के इन आश्रमों में अनाथ और पीड़ित महिलाओं को ऐसी शिक्षा दी जाती थी जिससे वे स्वयं अपनी जीविका उपार्जित कर सकें। पंडिता रमाबाई का जीवन इस बात का प्रमाण है कि यदि व्यक्ति दृढ़ निश्चय कर लें तो गरीबी, अभाव, दुर्दशा की स्थिति पर विजय प्राप्त करके वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है। उनकी सफलता का रहस्य था- प्रतिकूल परिस्थितियों में साहस के साथ संघर्ष करते रहना। 5 अप्रैल, 1922 ई. को पंडिता रमाबाई का देहांत हो गया।

पांडुरंग शास्त्री आठवले *(Pandurang Shastri Aathwale)*

पांडुरंग शास्त्री आठवले (19 अक्टूबर, 1920-25 अक्टूबर, 2003) भारत के दार्शनिक, आध्यात्मिक गुरु तथा समाज सुधारक थे। उनको प्राय: दादाजी के नाम से जाना जाता है जिसका मराठी में अर्थ 'बड़े भाई साहब' होता है। उन्होंने 1954 में स्वाध्याय आन्दोलन चलाया और स्वाध्याय परिवार की स्थापना की। स्वाध्याय आन्दोलन भागवत गीता पर आधारित आत्म-ज्ञान का आन्दोलन है जो भारत के एक लाख गाँवों में फैला हुआ है और इसके लगभग पाँच लाख सदस्य हैं। दादाजी श्रीमद भागवत गीता एवं उपनिषदों पर अपने प्रवचन के लिये प्रसिद्ध थे। उनके सामाजिक कर्मों की जमीन गुजरात और महाराष्ट्र रही।

उन्हें 1997 में धर्म के क्षेत्र में उन्नति के लिये टेम्पल्टन पुरस्कार (Templton Prize) से सम्मानित किया गया। 1999 में उन्हें सामुदायिक नेतृत्व के लिये मैग्सेसे पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया। उसी वर्ष भारत सरकार ने उन्हें पद्मविभूषण से सम्मानित किया।

पांडुरंगजी ने लोगों को अध्यात्म के मार्ग पर चलने की शिक्षा दी। उनका मूल मंत्र था- भक्ति ही शक्ति है। वे कहते थे कि हर मनुष्य के हृदय में भगवान बैठा है। यदि इस ईश्वरीय उपस्थिति को आप खुद में ही नहीं, दूसरों में भी महसूस करें तो दुष्कर्मों से स्वत: ही छुटकारा मिल जाएगा। इस मोटी-सी बात को वे बहुत ही प्रभावशाली तर्कों, दृष्टांतों और अपने आचरण से सिद्ध करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के पश्चिमी तट पर बसे लोगों के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन आने लगा। उनके निधन से राष्ट्र के एक महान मनीषी, वक्ता और कर्मयोगी का अवसान हो गया।

Copyright Akhil Murti

ओशो रजनीश *(Osho Rajneesh)*

रजनीश का जन्म 11 दिसम्बर, 1931 को मध्य प्रदेश में हुआ था। उन्हें बचपन में 'रजनीश चन्द्र मोहन' के नाम से जाना जाता था। 1955 में जबलपुर विश्वविद्यालय से उन्होंने स्नातक एवं सागर विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर की शिक्षा प्राप्त करने के बाद 1959 में व्याख्याता का पद सम्भाला। वह इस समय तक धर्म एवं दर्शन शास्त्र के ज्ञाता बन चुके थे। 1908-86 तक के काल में उनकी चतुर्दिक ख्याति फैली। बड़े-बड़े उद्योगपति, विदेशी धनकुबेर, फिल्म अभिनेता इनके शिष्य रहे हैं। रजनीश की कई कृतियाँ चर्चित रहीं हैं, इनमें 'सम्भोग से समाधि तक', 'मृत्यु है द्वार अमृत का', संभावनाओं की आहट', 'प्रेमदर्शन' के नाम प्रमुख हैं। उनकी भोगवादी विचारधारा के अनुयायी सभी देशों में पाये जाते हैं। रजनीश ने पुणे में 'रजनीश केन्द्र' की स्थापना की। 1981 में उन्होंने अमेरिका के ओरेगोन में अपना कम्यून बनाया। रजनीश ने सभी विषयों पर सबसे पृथक और आपत्तिजनक विचार व्यक्त किये हैं। ये उनकी एक अलग छवि बनाते हैं। उन्होंने पुरातनवाद के ऊपर नवीनता तथा क्रांतिकारी विजय पाने का प्रयास किया है। ओशो ने सैकड़ों पुस्तकें लिखीं, हजारों प्रवचन दिये। उनके प्रवचन पुस्तकों, आडियो कैसेट तथा विडियो कैसेट के रूप में उपलब्ध हैं। अपने क्रान्तिकारी विचारों से उन्होंने लाखों अनुयायी और शिष्य बनाये। अत्यधिक कुशल वक्ता होते हुए इनके प्रवचनों की करीब 600 पुस्तकें हैं। 'संभोग से समाधि की ओर' इनकी सबसे चर्चित और विवादास्पद पुस्तक है।

रजनीश कहते हैं कि स्त्री को अपनी मुक्ति के लिए अपने व्यक्तित्व को खड़ा करने की दिशा में सोचना चाहिए। उसे पुरुषों के बनाये मार्ग के बजाए खुद के सृजित मार्गों पर जाना पड़ेगा। जीवन को ज्यादा सुंदर और सुखद बनाने के लिए उसे प्रयास करना पड़ेगा; तभी स्त्री का मान, स्त्री का सम्मान, उसकी प्रतिष्ठा है। तब वह पुरुष के समकक्ष आ सकती है। स्त्री को एक और तरह की 'शिक्षा' चाहिए, जो उसे संगीतपूर्ण व्यक्तित्व दे, जो उसे नृत्यपूर्ण व्यक्तित्व दे, जो उसे प्रतीक्षा की अनंत क्षमता दे, जो उसे मौन की, चुप होने की, अनाक्रामक होने की, प्रेमी की और करुणा की गहरी शिक्षा दे। यह शिक्षा अनिवार्य रूपेण 'ध्यान' है। अगर सारी दुनिया की स्त्रियां एक बार तय कर लें- युद्ध नहीं होगा; दुनिया पर कोई राजनैतिक युद्ध में कभी किसी को नहीं घसीट सकता। सिर्फ स्त्रियां तय कर लें; युद्ध अभी नहीं होगा- तो नहीं हो सकता। क्योंकि कौन जाएगा युद्ध पर? कोई बेटा जाता है, कोई पति जाता है, कोई बाप जाता है। मुश्किल यह है कि स्त्री को कुछ पता नहीं कि यह क्या हो रहा है। वह पुरुष के पूरे जाल में सिर्फ एक खिलौना बनकर जगह एक खिलौना बन जाती है। जो रेखाएँ पुरुषों ने खींची हुई हैं, वे उससे पार जाने की नहीं सोच पातीं। सारी दुनिया की महिलाएँ में यह बुनियादी ख्याल जाग जाना चाहिए कि वे एक नई संस्कृति को, एक नए समाज को, एक नई सभ्यता को जन्म दे सकती हैं। स्त्री सजग हो तो कोई कठिनाई नहीं। एक बड़ी से बड़ी क्रांति दुनिया में स्त्री को लानी है।

रजनीश विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच होने वाले दंगों के बारे में कहते हैं ये हिंसा है और इसे जातीय हिंसा कहना गलत है। इसके लिए राजनीति जिम्मेदार है। राजनीति की वजह से ऐसा होता है होना यह चाहिये कि राज्य की नजर में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के मध्य किसी प्रकार का भेदभाव नागरिकों के लिए होना चाहिये। अलग-अलग धर्म के लिए अलग कानून बनाने से समस्या का समाधान नहीं होगा। राज्य की नजरों से हिन्दू और मुसलमान का अंतराल खत्म होना चाहिये।

ओशो ने हर एक पाखंड पर चोट की। संन्यास की अवधारणा को उन्होंने भारत की विश्व को अनुपम देन बताते हुए संन्यास के नाम पर भगवा कपड़े पहनने वाले पाखंडियों को खूब लताड़ा। उनकी नजर में संन्यासी वह है जो अपने घर-संसार, पत्नी और बच्चों के साथ रहकर पारिवारिक, सामाजिक जिम्मेदारियों को निभाते हुए ध्यान और सत्संग का जीवन जिए। उनकी दृष्टि में एक संन्यास है जो इस देश में हजारों वर्षों से प्रचलित है। वह जीवन से भगोड़ापन है, पलायन है।

रजनीश कहते हैं कि जीवन में कोई रहस्य है ही नहीं। या यह कहा जा सकता है कि जीवन खुला रहस्य है। सब कुछ उपलब्ध है, कुछ भी छिपा नहीं है। तुम्हारे पास देखने की आँख भर होनी चाहिए। यह ऐसा है जैसे अंधा आदमी पूछे कि 'मैं प्रकाश के रहस्य जानना चाहता हूँ।' उसे इतना ही चाहिए कि वह अपनी आँखों का इलाज करवाए ताकि वह प्रकाश देख सके। प्रकाश उपलब्ध है, यह रहस्य नहीं है। जीवन बंद मुट्ठी की तरह नहीं है; यह तो खुला हाथ है। लेकिन लोग इस बात का मजा लेते हैं कि जीवन एक रहस्य है- छुपा रहस्य। अपने अंधेपन को छुपाने के लिए उन्होंने यह तरीका निकाला है कि छुपे रहस्य गुह्य रहस्य हैं जो सभी के लिए उपलब्ध नहीं हैं, या वे ही महान लोग इन्हें जान सकते हैं जो तिब्बत में या हिमालय में रहते हैं, या वे जो अपने शरीर में नहीं हैं, जो अपने सूक्ष्म शरीर में रहते हैं और अपने चुने हुए लोगों को ही दिखाई देते हैं। इसी तरह की कई नासमझियां सदियों से बताई जा रही हैं। सिर्फ इस कारण से कि तुम इस तथ्य को देखने से बच सको कि तुम अंधे हो। जीवन किसी भी तरह से गुप्त रहस्य नहीं है। जीवन तुम से डरता नहीं है, इसलिए उसे छुपने की जरूरत ही क्या है? सच तो यह है कि तुम छुप रहे हो, लगातार स्वयं को छुपा रहे हो। जीवन के सामने अपने को बंद कर रहे हो क्योंकि तुम जीवन से डरते हो।

रजनीश कहते हैं कि अक्सर जिसको हम बुरा आदमी कहते हैं, उसमें एक जिंदगी होती है, और उसमें उतार-चढ़ाव होते हैं और अक्सर बुरे आदमी के पास जिंदगी के गहरे अनुभव होते हैं। अगर वह उनका उपयोग कर ले तो संत बन जाए। अच्छा आदमी कभी संत नहीं बन पाता। अच्छा आदमी बस अच्छा आदमी ही रह जाता है- सज्जन। सज्जन यानी मिडियॉकर। जिसने कभी बुरे होने की भी हिम्मत नहीं की, वह कभी संत होने की भी सामर्थ्य नहीं जुटा सकता।

Copyright Akhil Murti

वास्तविक प्रेमी अंत तक प्रेम करते हैं। अंतिम दिन वे इतनी गहराई से प्रेम करते हैं जितना उन्होंने प्रथम दिन किया होता है; उनका प्रेम कोई उत्तेजना नहीं होता। उत्तेजना तो वासना होती है। तुम सदैव ज्वरग्रस्त नहीं रह सकते। तुम्हें स्थिर और सामान्य होना होता है। वास्तविक प्रेम किसी बुखार की तरह नहीं होता। यह तो श्वास जैसा है जो निरंतर चलता रहता है। प्रेम ही हो जाओ। अपने को पूरी तरह भूल जाओ कि तुम कह सको कि मैं अब नहीं हूँ, केवल प्रेम है। तब हृदय नहीं धड़कता है, प्रेम ही धड़कता है। तब खून नहीं दौड़ता है, प्रेम ही दौड़ता है। तब आँखें नहीं देखती हैं, प्रेम ही देखता है। तब हाथ छूने को नहीं बढ़ते, प्रेम ही छूने को बढ़ता है। प्रेम बन जाओ और शाश्वत जीवन में प्रवेश करो।

रजनीश को उनके यौन संबंधी विचारों के कारण परंपरागत समाज के कोप का भाजन बनाना पड़ा है। लेकिन इससे रजनीश को कोई फर्क नहीं पड़ा। वे स्पष्ट कहते हैं कि हमने यौन क्रिया को सिवाय गाली के आज तक दूसरा कोई सम्मान नहीं दिया। हम तो बात करने में भयभीत होते हैं। हमने इसे इस भांति छिपा कर रख दिया है जैसे वह है ही नहीं, जैसे उसका जीवन में कोई स्थान नहीं है। जबकि सच्चाई यह है कि उससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण मनुष्य के जीवन में और कुछ भी नहीं है। लेकिन उसको छिपाया है, उसको दबाया है। दबाने और छिपाने से मनुष्य इससे मुक्त नहीं हो गया, बल्कि मनुष्य और भी बुरी तरह से सेक्स से ग्रसित हो गया। वास्तव में इसका दमन उल्टे परिणाम लाया है।

रजनीश कहते थे कि उन्हें इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है कि अपनी विचारधारा में किसी को बदलूं। वे कहते हैं कि मेरी कोई विचारधारा नहीं है। और दूसरी बात, मेरा विश्वास है कि किसी को बदलने का प्रयास-हिंसा है, यह उसके व्यक्तित्व में उसकी विशिष्टता में, उसकी स्वतंत्रता में दखल देना है।

अमर्त्य सेन *(Amartya Sen)*

प्रो. अमर्त्य सेन का जन्म 3 नवम्बर, 1933 को कोलकाता शहर के शांति निकेतन नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता 'आशुतोष सेन' ढाका विश्वविद्यालय में रसायन शास्त्र के अध्यापक थे। कोलकाता के शांति निकेतन और 'प्रेसीडेंसी कॉलेज' से शिक्षा पूर्ण करके उन्होंने कैम्ब्रिज के ट्रिनीटी कॉलेज से शिक्षा प्राप्त की। अमर्त्य सेन हावर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं। वे जादवपुर विश्वविद्यालय, दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भी शिक्षक रहे हैं। सेन ने एम.आई.टी., स्टैनफोर्ड, बर्कली और कॉरनेल विश्वविद्यालयों में अतिथि अध्यापक के रूप में भी शिक्षण कार्य किया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सेन ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। प्रो. के. एन. राज के साथ मिलकर ऑक्सफोर्ड इकोनॉमिक पेपर्स (फरवरी, 1961) में 'अल्टरनेटिव पैटर्न्स ऑफ ग्रोथ अंडर कंडीशंस ऑफ स्टैगनैंट एक्सपोर्ट अर्निंग्स' नामक एक शोध निबंध प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने महालनोबिस के द्वि-विभागीय मॉडल की कमजोरियों को दूर करने के लिए चार विभागों वाला वैकल्पिक मॉडल पेश किया जिसे 'राज सेन मॉडल' के नाम से जाना गया। वर्ष 1960 में उन्होंने भारतीय आर्थिक इतिहास के अध्ययन की ओर अपना रुख किया। सेन के अनुसार अपवादों को छोड़ दें तो भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश उन्हीं क्षेत्रों में गया जो मुख्यतया ब्रिटेन के अपने विकास के लिए अधिक लाभदायी थे। इन क्षेत्रों में उत्पादित वस्तुओं का निर्यात ब्रिटेन तथा अन्य विकसित देशों को किया जाता था। इन क्षेत्रों में चाय, कॉफी, कोयला तथा अन्य खनिज पदार्थ, जूट की वस्तुएं आदि आती थी। इनके निर्यात को बढ़ावा देने के लिए रेलवे तथा बैंकों का विकास आवश्यक था। इसलिए ब्रिटिश पूंजी उनमें भी गई। दूसरी, सेन ने इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि स्थानीय उपभोक्ताओं की गरीबी तथा निजी मुनाफा की प्रवृत्ति के बेरोकटोक काम करने के कारण ही ब्रिटिश पूंजी का वर्चस्व बढ़ा। तीसरी, भारत में ब्रिटिश निवेश की संरचना को मात्र मुनाफा दायकता की दृष्टि से उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर नहीं समझा जा सकता। इसे समझने के लिए भारत के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीतियों, ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के हितों तथा सामाजिक बनावट और आचरण पर ध्यान देना होगा।

सेन ने अपने लेखों में संवृद्धि की आवश्यकता पर जोर देने के साथ बेरोजगारी के उन्मूलन को प्राथमिकता देने की बात की। बेरोजगारी उन्मूलन के लिए केवल नए ज्ञान और प्रौद्योगिकी की ही जरूरत नहीं है बल्कि भारत जैसे देश में उत्पादन से जुड़े वर्तमान ज्ञान और प्रौद्योगिकी को समुचित सांस्थानिक प्रोत्साहन एवं उत्पादन के कारणों तथा उत्पादों सहित कीमतों के जरिए बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

सेन ने भारत में रोजगार के तीन पहलुओं पर ध्यान देने की बात की- आय पक्ष, उत्पादन पक्ष और सम्मान पक्ष। रोजगारयुक्त व्यक्ति को आत्मसम्मान तथा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। विदित है कि जिस व्यक्ति को उसकी योग्यता और क्षमता की दृष्टि से घटिया रोजगार मिलता है वह हीनभाव से ग्रस्त हो जाता है। अत: रोजगार को आयदेयी ही नहीं बल्कि उसे पाने वाले की अपेक्षाओं के अनुकूल भी होना चाहिए। सेन द्वारा रोजगार के सम्मान पक्ष का विश्लेषण सारगर्भित है। उन्होंने महिला श्रम के प्रति बदलते दृष्टिकोण की भी चर्चा की है। सेन के अनुसार, चार प्रकार के संरचनात्मक कारक जैसे प्रौद्योगिकीय संभावनाएँ सांस्थानिक तत्व, राजनीतिक व्यावहारिकता तथा आचरण संबंधी विशेषताएं सही रोजगार नीति-निर्धारण में बाधक हो सकते हैं।

सेन ने अकाल, उसके बदलते चरित्र और उसके कारणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। कोई जमाना था जब अकाल स्थानीय होते थे। यातायात और परिवहन की कठिनाइयों के कारण कहीं अकाल की स्थिति होती थी तो कहीं अनाज की बहुतायत। इसमें

Copyright – Akhil Murti

धनी-गरीब सब पीड़ित होते थे। ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद अकाल का अर्थ खाद्यान्नों का निरपेक्ष नहीं, बल्कि सापेक्ष अभाव हो गया। बाजार में खाद्यान्न रहते थे परंतु कीमतें इतनी चढ़ जाती थी कि उनको खरीद पाना अधिकतर लोगों के लिए असंभव हो जाता था। अत: क्रयशक्ति पर्याप्त न होने पर लोग भुखमरी के शिकार होने लगे। इस प्रकार अकाल दरिद्रता का ही एक पहलू बन गया। सेन ने 1981 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पावर्टी एंड फेमिंस' में 'इंटाइटलमेंट अप्रोच' सिद्धांत रखा। सेन ने कहा कि अकाल न पड़े इसके लिए आवश्यक है कि हकदारी की विफलता का सामना किसी को नहीं करना पड़े। इसके लिए आवश्यक है कि संपत्ति संबंधों में आमूल परिवर्तन होने के साथ साक्षरता, शिक्षा तथा स्वास्थ्य संबंधी सुविधाएं प्रदान कर हकदारी की विफलता या समाप्ति से लोगों की रक्षा की जाए। सेन ने माओकालीन चीन में आए अकाल को मानव इतिहास का सबसे बड़ा अकाल कहा जिसमें एक करोड़ 16 लाख लोग मरे। इसी दौरान भारत में अनेक बार अभाव की स्थितियाँ पैदा हुई और 1967 में बिहार में अकाल पड़ा परंतु चीन जैसी त्रासदी नहीं दिखी। सेन के अनुसार, भारत में जनतंत्र होने के कारण स्थिति पर परदा नहीं डाला जा सका परंतु चीन में जनतंत्र और वोट की राजनीति से जुड़ी कोई मजबूरी न थी।

सेन नवउदारवादी भूमंडलीकरण के विरोधी हैं। वे ट्रिकल डाउन को ठुकराते हैं। वे भारत के संदर्भ में भूमि सुधार पर जोर देते हैं। अमर्त्य सेन मोटे तौर पर भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के "आर्थिक सुधारों" से सहमत हैं पर साथ ही वह यह भी चाहते हैं कि पूंजीवादी सरकारें सामाजिक क्षेत्र/सामाजिक सुरक्षा/कल्याणकारी योजनाओं में भी पैसा खर्च करें। सेन मनरेगा, खाद्य सुरक्षा बिल जैसी योजनाओं को चलाने के पक्ष में हैं। वे चाहते हैं कि सरकार गरीबी उन्मूलन, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की सामाजिक मदों में अपने खर्चों को बढ़ाये जिससे लोगों का जीवनस्तर और क्रय क्षमता सुधरे वरना इसके बिना तेज आर्थिक विकास दर हासिल नहीं हो पायेगी।

अमर्त्य सेन का कहना है कि पहली प्राथमिकता सामाजिक विकास या संजीव पुनर्वितरण या 'एक्टिव रिडिस्ट्रीब्यूशन' होना चाहिये और सरकार को शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी उन्मूलन आदि कार्यक्रमों को हाथ में लेना चाहिए। वे विकास दर के ऊपर सामाजिक विकास को प्राथमिकता देते हैं। सेन ने अकाल व गरीबी पर काफी अध्ययन किया है। वे कहते हैं कि यह जरूरी नहीं कि भोजन की पर्याप्त मात्रा समाज में उपलब्ध होने के बावजूद गरीबों को भोजन मिल ही जायेगा क्योंकि जमाखोरी, महँगाई आदि के कारण हो सकता है कि गरीब आबादी भोजन खरीद ही ना सके। इसलिये वे सरकार से माँग करते हैं कि सरकारें वितरण (उपभोक्ता सामग्री के) के क्षेत्र में हस्तक्षेप करें।

सेन के अनुसार पूंजीवाद में सारी समस्या वितरण के क्षेत्र में है न कि उत्पादन के क्षेत्र में। इसलिये वे वितरण तंत्र को ठीक करने पर जोर देते हैं जिसका नतीजा उनके 'एक्टिव रिडिस्ट्रीब्यूशन' के रूप में सामने आता है। सेन पूंजीवाद को सही मानते हुए उसके सुधरे हुए स्वरूप के समर्थक हैं। सेन एक खराब वितरण तंत्र वाली प्रणाली से असहमत हैं। भारत में होने वाले 'आर्थिक सुधारों' से मोटे तौर पर अमर्त्य सेन स्वयं सहमत हैं वे चाहते हैं कि निजी पूंजी के आगे कुछ रोक लगे। भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के इन आर्थिक सुधारों को अमर्त्य सेन धीरे-धीरे व सामाजिक सुरक्षा के साथ लागू करने के पक्षधर हैं।

विश्व के महान सुधारक *(Great Reformers of World)*

ईसा मसीह *(Jesus Christ)*

ईसा मसीह को ईश्वर प्रेरित मुक्तिदाता के रूप में पूजनीय माना गया है। ईसा ने अपने कृत्यों, आदर्शों से अपने अनुयायियों को प्रभावित किया। ईसा के अंतिम दो तीन वर्ष समझने के लिए उस समय की राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थिति ध्यान में रखनी चाहिए। समस्त यहूदी जाति रोमन सम्राट तिबेरियस के अधीन थी तथा यहूदिया प्रांत में पिलातस नामक रोमन राज्यपाल शासन करता था। यह राजनीतिक परतंत्रता यहूदियों को बहुत अखरती थी। वे अपने धर्मग्रंथ में वर्णित मसीह की राह देख रहे थे क्योंकि उन्हें आशा थी कि मसीह उनको गुलामी से मुक्त करेंगे। अब ईसा ने देश का परिभ्रमण करते हुए उपदेश देने लगे। उनके अचानक धर्मोपदेशक बनने पर लोगों को आश्चर्य हुआ। सब ने अनुभव किया कि ईसा अत्यंत सरल भाषा तथा प्राय: दैनिक जीवन के दृष्टांतों का सहारा लेकर अधिकारपूर्वक मौलिक धार्मिक शिक्षा दे रहे हैं।

ईसा यहूदियों का धर्मग्रंथ (ईसाई बाइबिल का पूर्वार्ध) प्रामाणिक तो मानते थे किंतु यह शास्त्रियों की भाँति उसकी व्याख्या ही नहीं करते थे, प्रत्युत उसके नियमों में परिष्कार करने का भी साहस करते थे। 'पर्वत-प्रवचन' में उन्होंने कहा- मैं मूसा का नियम तथा नबियों की शिक्षा रद्द करने नहीं, बल्कि पूरी करने आया हूँ। वह यहूदियों के पर्व मनाने के लिए राजधानी जेरूसलम के मंदिर में आया तो करते थे, किंतु वह यहूदी धर्म को अपूर्ण समझते थे। वह शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित जटिल कर्मकांड का विरोध करते थे और नैतिकता को ही धर्म का आधार मानकर उसी को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देते थे। ईसा के अनुसार धर्म का सार दो बातों में है

1. मनुष्य का परमात्मा को अपना दयालु पिता समझकर समूचे हृदय से प्यार करना तथा उसी पर भरोसा रखना।

Copyright Akhil Murti

2. अन्य सभी मनुष्यों को भाई-बहन मानकर किसी से भी बैर न रखना, अपने विरुद्ध किए हुए अपराध क्षमा करना तथा सच्चे हृदय से सबका कल्याण चाहना। जो यह भ्रातृ प्रेम निभाने में असमर्थ हो वह ईश्वरभक्त होने का दावा न करे, भगवद्भक्ति की कसौटी भ्रातृ प्रेम ही है।

जनता इस शिक्षा पर मुग्ध हुई तथा उनके द्वारा किए गये चमत्कार देखकर जनता ने ईसा को नबी के रूप में स्वीकार किया। तब ईसा ने धीरे-धीरे यह प्रकट किया कि मैं ही मसीह, ईश्वर का पुत्र हूँ, स्वर्ग का राज्य स्थापित करने स्वर्ग से उतरा हूँ। यहूदी अपने को ईश्वर की चुनी हुई प्रजा समझते थे तथा बाइबिल में जो मसीह और स्वर्ग के राज्य की प्रतिज्ञा है उसका एक भौतिक एवं राष्ट्रीय अर्थ लगाते थे। ईसा ने उन्हें समझाया कि मसीह यहूदी जाति का नेता बनकर उसे रोमनों की गुलामी से मुक्त करने नहीं, प्रत्युत सब मनुष्यों को पाप से मुक्त करने आए हैं। स्वर्ग के राज्य पर यहूदियों का एकाधिकार नहीं है, मानव मात्र इसका सदस्य बन सकता है। वास्तव में स्वर्ग का राज्य ईसा पर विश्वास करने वालों का समुदाय है जो दुनिया के अंत तक उनके संदेश का प्रचार करता रहेगा। स्वर्ग के राज्य के इस आध्यात्मिक स्वरूप के कारण ईसा के प्रति यहूदी नेताओं में विरोध उत्पन्न हुआ। वे समझने लगे कि ईसा स्वर्ग का जो राज्य स्थापित करना चाहते हैं वह एक नया धर्म है जो जेरूशलम के मंदिर से कोई संबंध नहीं रख सकता। अंततोगत्वा ईसा को गिरफ्तार कर लिया गया। सन् 29 ई. को प्रभु ईसा गधे पर चढ़कर जेरूशलम पहुँचे। वहीं उनको दंडित करने का षड्यंत्र रचा गया। उनके शिष्य जुदास ने उनके साथ विश्वासघात किया। यहूदियों की महासभा ने उनको इसलिए प्राणदंड दिया कि वह मसीह तथा ईश्वर का पुत्र होने का दावा करते हैं। रोमन राज्यपाल ने ईसा को क्रूस पर मरने का आदेश दिया। ईसा ने क्रूस पर लटकते समय ईश्वर से प्रार्थना की, 'हे प्रभु, क्रूस पर लटकाने वाले इन लोगों को क्षमा कर। वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। उनकी मृत्यु के बाद उन्हें क्रूस से उतारकर दफना दिया गया। दफनाने के तीसरे दिन ईसा की कब्र खाली पाई गई, उसी दिन से, आस्थावानों का विश्वास है, वह पुनर्जीवित होकर अपने शिष्यों को दिखाई देने लगे और उनके साथ वार्तालाप भी करने लगे। उस समय ईसा ने अपने शिष्यों को समस्त जातियों में जाकर अपने संदेश का प्रचार करने का आदेश दिया। पुनरुत्थान के 40वें दिन ईसाई विश्वास के अनुसार, ईसा का स्वर्गारोहण हुआ।

ईसा की आकृति का कोई भी प्रामाणिक चित्र अथवा वर्णन नहीं मिलता, तथापि बाइबिल में उनका जो थोड़ा बहुत चरित्र चित्रण हुआ है उससे उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली होने के साथ ही अत्यंत आकर्षक सिद्ध हो जाता है। ईसा 30 साल की उम्र तक मजदूर का जीवन बिताने के बाद धर्मोपदेशक बने थे, अतः वह अपने को जनसाधारण के अत्यंत निकट पाते थे। जनता भी उनकी नम्रता और मिलनसारिता से आकर्षित होकर उनको घेरे रहती थी। वह बच्चों को विशेष रूप से प्यार करते थे तथा उनको अपने पास बुलाकर आशीर्वाद दिया करते थे। वह प्रकृति के सौंदर्य पर मुग्ध थे तथा अपने उपदेशों में पुष्पों, पक्षियों आदि का उपमान के रूप में प्रायः उल्लेख करते थे। वह धन-दौलत को साधना में बाधा समझकर धनियों को सावधान किया करते थे तथा दीन दुखियों और रोगियों को स्वास्थ्य प्रदान कर अपनी अलौकिक शक्ति को व्यक्त करते थे। वह धार्मिक आडंबरों के निंदक थे। सहृदय और मिलनसार होते हुए भी वह नितांत अनासक्त और निर्लिप्त थे। आत्मसंयमी होते हुए भी उन्होंने कभी शरीर गलाने वाली घोर तपस्या नहीं की। वह पाप से घृणा करते थे, पापियों से नहीं। अपने को ईश्वर का पुत्र तथा संसार का मुक्तिदाता कहते हुए भी वे अहंकारशून्य और अत्यंत विनम्र थे। मनुष्यों में अपना स्नेह वितरित करते हुए भी वह अपना संपूर्ण प्रेम ईश्वर को निवेदित करते थे। इस प्रकार ईसा में एकांगीपन अथवा उग्रता का सर्वथा अभाव दिखता है, उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से संतुलित है।

कंफ्यूशियस *(Confucius)*

चीन के महान दार्शनिक और विचारक कंफ्यूशियस (Confucius) का जन्म 551 ईसा पूर्व चीन के पूर्वी प्रांत शानडोंग (शान तुंग) के क्यूफू में हुआ था। भारत में उस काल में भगवान महावीर और बुद्ध के विचारों का जोर था। कंफ्यूशियस को एक राजनीतिज्ञ विचारक से ज्यादा एक धार्मिक विचारक भी माना गया है। इस दार्शनिक के नाम से चीन की सरकार एक शांति पुरस्कार भी प्रदान करती है। कंफ्यूशियस के शहर में आज भी उनका स्मारक, मंदिर और भवन समेत कई प्राचीन इमारतें हैं। यह चीन की सांस्कृतिक धरोहर है, जिसे यूनेस्को ने विश्व धरोहर की लिस्ट में शामिल किया है।

कंफ्यूशियस ने ऐसे समय जन्म लिया जबकि चीन की शक्ति बिखर गई थी और उस समय कमजोर झोऊ राजवंश का आधिपत्य था। उस दौर में कंफ्यूशियस के दार्शनिक विचारों के साथ ही उनके राजनीतिक और नैतिक विचारों ने चीन के लोगों पर अच्छा-खासा प्रभाव डाला। इसी के चलते उन्होंने कुछ वक्त राजनीति में भी गुजारा। दरअसल कंफ्यूशियस एक सुधारक थे। कंफ्यूशियस ने स्वः अनुशासन, बेहतर जीवनचर्या और परिवार में सामंजस्य पर जोर दिया था। उनकी शिक्षाओं का आज भी चीन के कुछ लोग पालन करते हैं।

कंफ्यूशियसवाद उन्हीं से जुड़ी धर्म, दर्शन और सदाचार की विचारधारा है। इसमें भी उनका जोर सदाचरण पर ज्यादा है। उन्होंने सद्व्यवहार, सदाचरण और शिष्टाचार के नियमों पर बहुत बल दिया है। कंफ्यूशियस का प्रयास था कि इससे चीनी समाज में फैली कुरीतियों और बुराइयों को दूर किया जा सकता है। उन्होंने पिता-पुत्र के मध्य, पति-पत्नी के मध्य, भाइयों के मध्य, शासकों और

Copyright Akhil Murti

उनके सलाहकारों के मध्य संबंधों की मीमांसा करके कुछ नियमों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने प्रत्येक नागरिक का आह्वान किया कि सही बात को समझना और उसके अनुसार आचरण न करना कायरता है। उन्होंने कहा कि दयालुता का बदलता दयालुता और चोट का बदला न्याय से दिया जाना चाहिए। वह पुरानी परंपरा को दोबारा स्थापित करने के इच्छुक थे और जीवन में संयम, निष्ठा आदि पर बल देते थे। उनका मत था कि संसार से पलायन करना मूर्खता है। उनकी शिक्षाएँ धार्मिक गुत्थियों एवं जटिलताओं से परे, नैतिकता और सत्पुरुष के आचरण की संहिता के रूप में बद्ध हैं।

हज़रत मुहम्मद साहब *(Hazrat Mohammed Sahab)*

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद साहब थे, जिनका जन्म 570 ई. को सऊदी अरब के मक्का नामक स्थान में कुरैश कबीले के अब्दुल्ला नामक व्यापारी के घर हुआ था। मान्यता है कि असाधारण प्रतिभाशाली मुहम्मद आजीवन अक्षर-ज्ञान से रहित रहे। सत्य प्रेमी, व्यवहार-चतुरता, ईमानदारी आदि अनेक सद्गुणों के कारण उनका बहुत सम्मान होता था। इन्हीं सद्गुणों के कारण उनकी स्वीकार्यता धीरे-धीरे बढ़ने लगी। जब वह 40 वर्ष के हुए तो उन्हें ईश्वरीय दिव्य संदेश मिलने लगे थे जिसे उन्होंने लोगों को बताना शुरू किया। उनकी बढ़ती लोकप्रियता ने तत्कालीन सत्ताधारियों को नाराज़ कर दिया।

जब वह 53 साल के थे तो उनकी हत्या का प्रयास किया गया। लेकिन उन्हें इसकी जानकारी पहले मिल गई और वे वहाँ से मदीना नगर को प्रस्थान कर गये। मदीना में वह अधिक दिन तक शान्तिपूर्वक विश्राम न कर सके थे कि वहाँ भी उनका विरोधी कुरैश समुदाय उन्हें कष्ट पहुँचाने लगा। अन्त में आत्मरक्षा का कोई अन्य उपाय न देख कुरैश और उनकी कुमंत्रणा में पड़े हुए मदीना निवासी यहूदियों के साथ उन्हें युद्ध करने पड़े, जिसकी समाप्ति 'मक्का विजय' के साथ हुई। उन्होंने अपना शेष जीवन मदीना में ही व्यतीत किया। उनके जीवन में ही सारा अरब एक राष्ट्र और एक धर्म के सूत्र में आबद्ध हो इस्लाम धर्म में प्रविष्ट हो गया। 632 ई. में मदीना में 63 वर्ष की अवस्था में मुहम्मद अपने महान् जीवनोद्देश्य को पूर्ण कर मृत्यु को प्राप्त हुए।

मुहम्मद साहब पर उतरी आयतों (ईश्वरीय संदेशों) का संकलन 'कुरान' नामक पुस्तक में किया गया है। 'कुरान' में तीस खण्ड हैं और वह 114 'सूरतों' (अध्यायों) में विभक्त है। निवास-क्रम से प्रत्येक सूरत 'मक्की' या 'मद्री' नाम से पुकारी जाती है, अर्थात मक्का में उतरी 'सूरतें' 'मक्की' और मदीना में उतरी 'मद्री' कही जाती हैं।

'कुरान' में एक ईश्वर के विश्वास पर बहुत बल दिया गया है। इसमें एक-दो नहीं, सैकड़ों बार कहा गया है कि वह परमेश्वर एक ही है, उसके सिवा दूसरा कोई पूज्य नहीं। यहाँ ईश्वर को सर्वव्यापक और सर्वज्ञ माना गया है। महात्मा मुहम्मद शान्तिप्रिय थे, ईश्वर भक्त थे। उनमें और बहुत से सद्गुण थे। उन्होंने मनुष्य जाति पर बड़ा उपकार किया। उनकी शिक्षाओं ने अगणित लोगों को उचित जीवनमार्ग और शांति प्रदान की। महात्मा मुहम्मद के आचरण को आदर्श मानकर उसे दूसरों के लिए अनुकरणीय कहा गया है।

जर्दानो ब्रूनो *(Giordano Bruno)*

ब्रूनो (1548-1600) का जन्म इटली के नोला नगर में हुआ था। केवल 17 साल की उम्र में वे नेपल्स में चर्च से जुड़ गये लेकिन कुछ साल बाद ही उन्होंने इसे त्याग दिया। उन्होंने इटली के कई शहरों की यात्राएँ कीं। ब्रूनो एक महान विचारक और भावुक कवि होने के साथ दार्शनिक, गणितज्ञ, ज्योतिषी और खगोलशास्त्री भी थे। उनके ब्रह्माण्ड संबंधी सिद्धांत ने तत्कालीन धर्म प्रधान यूरोपीय समाज में हलचल मचा दी। उनका मानना था कि सूर्य कोई विशेष नहीं अपितु एक बड़ा सितारा ही है। यह ब्रह्मांड अनंत है और अन्य जगहों पर भी बुद्धिमान प्राणी बसते हैं। उनके इन विचारों से चर्च और उसके रूढ़िवादी प्रशासक नाराज़ हो गये। उन्हें लगा कि ब्रूनो चर्च की सत्ता को चुनौती देने का प्रयास कर रहा है। वह युग विज्ञान और वैज्ञानिक प्रविधि के विकास के दौर की शुरुआती अवस्था का था। पोलिश वैज्ञानिक कोपरनिकस (1453-1543) पहले ही इस बात को कह चुके थे कि पृथ्वी केन्द्र में नहीं है और सूर्य पृथ्वी के चक्कर नहीं काटता अपितु पृथ्वी ही सूर्य के चक्कर काटती है। ब्रूनो ने कोपरनिकस की बात को सत्य पाया और उसे अनुमोदित किया, लेकिन इससे चर्च की प्रतिष्ठा पर सवाल उत्पन्न हो गये। चर्च ने उन्हें दंडित करने का मन बना लिया। ब्रूनो के खिलाफ आरोप लगाये गए और रोमन चर्च के द्वारा हुई जाँच में उन्हें दोषी पाया गया। ब्रूनो ने चर्च से माफी नहीं मांगी और जिस वैज्ञानिक खोज को उन्होंने सत्य समझा उस पर अडिग रहे। चर्च की सत्ता को चुनौती देने के दोषी पाये गये ब्रूनो को दंड स्वरूप जीवित ही जला दिया गया। ब्रूनो को आधुनिक वैज्ञानिक विचारों के लिए शहीद होने वाले लोगों में ससम्मान शामिल किया जाता है।

गैलीलियो गैलिली *(Galileo Galilei)*

इटली के पीसा शहर में 15 फरवरी, 1564 को गैलीलियो गैलिली का जन्म हुआ। गैलीलियो एक खगोलविज्ञानी के अलावा एक ऐसे कुशल गणितज्ञ, भौतिकीविद् और दार्शनिक भी थे जिसने यूरोप की वैज्ञानिक क्रांति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसीलिए गैलीलियो को 'आधुनिक खगोल विज्ञान के जनक', 'आधुनिक भौतिकी का पिता' या 'विज्ञान का पिता' के रूप में संबोधित किया जाता है।

Copyright Akhil Murti

गैलीलियो ने भौतिक विज्ञान में गतिकी के समीकरण स्थापित किए। उनका जड़त्व का नियम जगप्रसिद्ध है। उन्होंने पीसा की मीनार के अपने प्रसिद्ध प्रयोग द्वारा सिद्ध किया कि वस्तुओं के गिरने की गति उनके द्रव्यमान पर निर्भर नहीं करती। उन्होंने पहली बार सिद्ध किया कि निर्वात में प्रक्षेप्य का पथ परवलयकार होता है। गैलिलियो ने उच्च कोटि का कम्पास बनाया जो समुद्री यात्रियों के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हुआ। उनके अन्य आविष्कारों में सूक्ष्मदर्शी, सरल लोलक आधारित पेंडुलम घड़ी इत्यादि हैं। उन्होंने भौतिक नियमों के बारे में बताया कि वे उन सभी निकायों में, जो नियत गति से चलते हैं, समान रूप से लागू होते हैं। यह सापेक्षता के सिद्धांत की प्रारंभिक झलक थी।

वे धार्मिक प्रवृत्ति के भी थे पर वे धार्मिक मान्यताओं के विपरीत जाते अपने परिणामों को पूरी ईमानदारी से सामने रखते। उनकी चर्चा के प्रति निष्ठा थी लेकिन तब भी वह ज्ञान और विवेक से ही किसी अवधारणा को तोलते थे। गैलीलियो की इस सोच ने मनुष्य की चिंतन प्रक्रिया में नया मोड़ ला दिया। स्वयं गैलीलियो अपने विचारों को बदलने को तैयार हो जाते यदि उनके प्रयोगों के परिणाम ऐसा इशारा करते। अपने प्रयोगों को करने के लिए गैलीलियो ने लंबाई और समय के मानक तैयार किए ताकि यही प्रयोग अन्यत्र जब दूसरी प्रयोगशालाओं में दुहराए जाएं तो परिणामों की पुनरावृत्ति द्वारा उनका सत्यापन किया जा सके।

गैलीलियो ने आज से बहुत पहले गणित, सैद्धांतिक भौतिकी और प्रायोगिक भौतिकी के परस्पर संबंध को समझ लिया था। परवलय या पैराबोला का अध्ययन करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि एक समान त्वरण (Uniform Acceleration) की अवस्था में पृथ्वी पर फेंका कोई पिंड एक परवलयाकार मार्ग पर चल कर वापस पृथ्वी पर आ उनकी इसी अंतर्दृष्टि के लिए प्रसिद्ध भौतिकीविद् आइंस्टाइन ने उन्हें 'आधुनिक विज्ञान का पिता' की पदवी दे डाली।

गैलीलियो ने ही 'जड़त्व का सिद्धांत' हमें दिया जिसके अनुसार 'किसी समतल पर चलायमान पिंड तब तक उसी दिशा व वेग से गति करेगा जब तक उसे छेड़ा न जाए।' बाद में यह जाकर न्यूटन के गति के सिद्धांतों का पहला सिद्धांत बना। पीसा के विशाल कैथेड्रल (चर्च) में झूलते झूमर को देखकर-उन्हें ख्याल आया क्यों न इसका दोलन काल नापा जाए- उन्होंने अपनी नब्ज की धप-धप की मदद से यह कार्य किया- और इस प्रकार सरल लोलक का सिद्धांत बाहर आया- कि लोलक का आवर्तकाल उसके आयाम (Amplitude) पर निर्भर नहीं करता (यह बात केवल छोटे आयाम पर लागू होती है- पर एक घड़ी का निर्माण करने के लिए इतनी परिशुद्धता काफी है)। सन् 1632 में उन्होंने ज्वार-भाटे की व्याख्या की। जिसे आज हम आपेक्षिकता (Relativity) का सिद्धांत कहते हैं उसकी नींव भी गैलीलियो ने ही डाली थी। उन्होंने कहा है 'भौतिकी के नियम वही रहते हैं चाहे कोई पिंड स्थिर हो या समान वेग से एक सरल रेखा में गतिमान। कोई भी अवस्था न परम स्थिर या परम चल अवस्था हो सकती है।' इसी ने बाद में न्यूटन के नियमों का आधारगत ढांचा दिया।

सन् 1609 में गैलीलियो को दूरबीन के बारे में पता चला जिसका हॉलैंड में आविष्कार हो चुका था। केवल उसका विवरण सुनकर उन्होंने उससे भी कहीं अधिक परिष्कृत और शक्तिशाली दूरबीन स्वयं बना ली। 25 अगस्त, 1609 को गैलिलियो ने अपने आधुनिक टेलिस्कोप का सार्वजनिक प्रदर्शन किया। इसकी मदद से गैलीलियो ने चांद और शुक्र को देखा। बृहस्पति ग्रह को देखने पर पता चला कि उसका एक अलग संसार है। उसके गिर्द घूम रहे ये पिंड अन्य ग्रहों की तरह पृथ्वी की परिक्रमा करने के लिए बाध्य नहीं हैं। यहाँ से टॉलेमी और अरस्तू की उन परिकल्पनाओं की नींव हिल गई जिनमें ग्रह और सूर्य सभी पिंडों की गतियों का केन्द्र पृथ्वी को बताया गया था। गैलीलियो की इस खोज से सौरमंडल के सूर्य केंद्रित सिद्धांत को बहुत बल मिला। हालाँकि निकोलस कॉपरनिकस गैलीलियो से पहले ही यह कह चुके थे कि ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं न कि पृथ्वी की, पर इसे मानने वाले बहुत कम थे। हालांकि भारत में वराहमिहिर यह पहले ही कह चुके थे किंतु यूरोपियन चर्च इससे सहमत न होकर अरस्तू की थ्योरी पर ही विश्वास रखते थे।

इसके साथ ही गैलीलियो ने कॉपरनिकस के सिद्धांत को खुला समर्थन देना शुरू कर दिया। ये बात तत्कालीन वैज्ञानिक और धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध जाती थी। इस कारण गैलीलियो के कथन को कैथोलिक चर्चों के विरोध का सामना करना पड़ा। गैललियो ने खंडन करते हुए कहा कि उसने कहीं भी बाइबिल के विरुद्ध कुछ नहीं कहा है। गैलीलियो के जीवनकाल में इसे उनकी भूल ही समझा गया। सन् 1633 में चर्च ने गैलीलियो को आदेश दिया कि वे सार्वजनिक रूप से कहें कि ये उनकी बड़ी भूल है। उन्होंने ऐसा किया भी। फिर भी गैलीलियो को अपने जीवन के अन्तिम दिन रोमन साम्राज्य की कैद में बिताने पड़े। बाद में उनके बिगड़ते स्वास्थ्य के मद्देनज़र सजा को गृह-कैद में तब्दील कर दिया गया। अपने जीवन का अंतिम दिन भी उन्होंने इसी कैद में गुजारा वर्ष 1992 में जाकर वैटिकन शहर स्थित ईसाई धर्म की सर्वोच्च संस्था ने यह स्वीकारा कि गैलीलियो के मामले में उनसे गलती हुई थी।

रोजा पार्क *(Roja Park)*

रोजा पार्क का जन्म 4 फरवरी 1913 को अमेरिका के अल्बामा शहर में हुआ था। रोजा पार्क 1 दिसंबर 1955 को अलाबामा के माण्टगोमरी में एक बस में एक गोरे अमरीकी के लिए अपनी सीट से उठने से इन्कार कर दिया था। तत्पश्चात् उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया था। रोजा पार्क की गिरफ्तारी ने अमेरिका के नागरिक अधिकार आन्दोलन के लिए एक उत्प्रेरक का काम किया।

Copyright - Akhil Murti

इस घटना से पहले अमेरिका के कई राज्यों में बसों में पहली पंक्ति से मध्य पंक्ति तक की सीटें गोरों के लिए आरक्षित हुआ करती थीं। इनमें कोई भी काला व्यक्ति नहीं बैठ सकता था। यह कानूनन बाध्यकारी था। लेकिन इसी के साथ एक परम्परा यह भी थी कि यदि गोरों की सभी आरक्षित सीटें भर जाती हैं, ऐसी दशा में गोरों के लिए काले लोगों को अपनी सीट खाली करनी पड़ती थी। यानी तकनीकी तौर पर देखा जाए तो रोजा पार्क ने किसी कानून का उल्लंघन नहीं किया था। क्योंकि वे गोरों के लिए आरक्षित सीट पर नहीं बैठी थीं। लेकिन जब एक गोरे को सीट देने के लिए ड्राईवर ने उनसे सीट छोड़ देने के लिए कहा तो रोजा पार्क ने इनकार कर दिया। और उन्हें इस 'अवज्ञा' के कारण गिरफ्तार कर लिया गया।

रोजा पार्क का यह कदम कोई स्वत:स्फूर्त कदम नहीं था। दरअसल रोजा पार्क 1943 से ही कालों के नागरिक अधिकार आन्दोलन के साथ जुड़ी हुई थीं और उसके एक संगठन एनएएसीपी की सदस्य थीं। रोजा पार्क की गिरफ्तारी नागरिक अधिकार आन्दोलन में मील का पत्थर साबित हुई और रोजा पार्क नस्लीय भेदभाव के खिलाफ प्रतिरोध का प्रतीक बन गयीं।

स्वयं रोजा पार्क ने 1943 से 1955 तक नागरिक अधिकारों के लिए बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं। डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर उनके सहयोगी थे। किंग ने 1958 में प्रकाशित अपनी किताब **'स्ट्राइड टुवर्ड्स फ्रीडम'** में लिखा है कि रोजा पार्क की गिरफ्तारी विरोध प्रदर्शनों का कारण नहीं बल्कि उत्प्रेरक था। रोजा पार्क की गिरफ्तारी के बाद विभिन्न नागरिक अधिकार संगठनों ने बस के बहिष्कार का नारा दिया। यह बहिष्कार ऐतिहासिक रूप से 13 महीने चला। चूँकि बसों में लगभग 75 प्रतिशत संख्या काले लोगों की होती थी इसलिए इस बहिष्कार के कारण लगभग सभी बस कम्पनियाँ आर्थिक रूप से तबाह हो गयीं। बहिष्कार को लागू करने में काले लोगों को भी बहुत कष्ट झेलना पड़ा। बहुतों को अपने काम पर जाने के लिए 30-30 किमी तक पैदल चलना पड़ता था। हालाँकि धनी काले लोगों ने अपनी कारें उनकी मदद के लिए दे दीं थी, जिसे वे लोग शेयर टैक्सी के रूप में इस्तेमाल करते थे। तत्कालीन अमरीकी कम्युनिस्ट पार्टी ने भी इस आन्दोलन का सक्रिय समर्थन किया। इस आन्दोलन ने कुछ ही महीनों में व्यापक रूप ले लिया। अन्तत: अमरीकी सीनेट को बाध्य होना पड़ा और गोरे-कालों के अलगाव के इस कानून को रद्द करना पड़ा। अमेरिका के नागरिक अधिकार आन्दोलन की यह बहुत बड़ी जीत थी। अमेरिका का रैडिकल **ब्लैक पैन्थर मूवमेन्ट** भी इसी जमीन पर पैदा हुआ। उनके जन्मदिवस (4 फरवरी) और उनकी बहुचर्चित गिरफ्तारी (1 दिसम्बर) को अमेरिका में विशेषकर अफ्रीकन अमरीकियों के बीच 'रोजा पार्क दिवस' के रूप में मनाया जाता है।

डॉ. मार्टिन लूथर किंग, जूनियर *(Martin Luther King Jr.)*

डॉ मार्टिन लूथर किंग, जूनियर का जन्म 1929 में अटलांटा, अमेरिका में हुआ था। डॉ. किंग ने संयुक्त राज्य अमेरिका में नीग्रो समुदाय के प्रति होने वाले भेदभाव के विरुद्ध सफल अहिंसात्मक आंदोलन का संचालन किया। 1955 का वर्ष उनके जीवन का निर्णायक मोड़ था। उनको अमेरिका के दक्षिणी प्रांत अल्बामा के माण्टगोमरी शहर से डेक्सटर एवेन्यू बॅपटिस्ट चर्च में प्रवचन देने बुलाया गया और इसी वर्ष माण्टगोमरी की सार्वजनिक बसों में काले-गोरे के भेद के विरुद्ध एक महिला श्रीमती रोजा पार्क ने गिरफ्तारी दी। इसके बाद ही डॉ. किंग ने प्रसिद्ध बस आंदोलन चलाया।

13 महीने तक चले इस सत्याग्रही आंदोलन के बाद अमेरिकी बसों में काले-गोरे यात्रियों के लिए अलग-अलग सीटें रखने का प्रावधान खत्म कर दिया गया। बाद में उन्होंने धार्मिक नेताओं की मदद से समान नागरिक कानून आंदोलन अमेरिका के उत्तरी भाग में भी फैलाया। उन्हें 1964 में विश्व शांति के लिए सबसे कम उम्र में नोबेल पुरस्कार से नवाज़ा गया। कई अमेरिकी विश्वविद्यालयों ने उन्हें मानद उपाधियाँ दीं। धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं ने उन्हें मेडल प्रदान किए। 'टाइम' पत्रिका ने उन्हें 1963 का 'मैन ऑफ द इयर' चुना। वे गांधीजी के अहिंसक आंदोलन से बेहद प्रभावित थे। गांधीजी के आदर्शों पर चलकर ही डॉ. किंग ने अमेरिका में इतना सफल आंदोलन चलाया, जिसे अधिकांश गोरों का भी समर्थन मिला।

1959 में उन्होंने भारत की यात्रा की। डॉ. किंग ने अखबारों में कई आलेख लिखे। 'स्ट्राइड टुवर्ड फ्रीडम' (1958) तथा 'व्हाय वी कैन नॉट वेट' (1964) उनकी लिखी दो पुस्तकें हैं। 1957 में उन्होंने साउथ क्रिश्चियन लीडरशिप कॉन्फ्रेंस की स्थापना की। डॉ. किंग की प्रिय उक्ति थी- 'हम वह नहीं हैं, जो हमें होना चाहिए और हम वह नहीं हैं, जो होने वाले हैं, लेकिन खुदा का शुक्र है कि हम वह भी नहीं हैं, जो हम थे।' 4 अप्रैल, 1968 को गोली मारकर उनकी हत्या कर दी गई।

मिखाइल गोर्बाचोफ *(Mikhail Gorbachev)*

मिखाइल सेर्गेयविच गोर्बाचोफ का जन्म 2 मार्च 1931 को दक्षिणी रूस में हुआ। वे पढ़ाई लिखाई में इतने दक्ष थे कि उन्हें मास्को स्टेट विश्वविद्यालय के विधि विभाग में प्रवेश लेने के लिए न तो कोई परीक्षा देनी पड़ी और न ही कोई इंटरव्यू देना पड़ा। मिखाइल गोर्बाचोफ एक किसान परिवार में पैदा होने की वजह से कड़े परिश्रम से कभी पीछे नहीं हटते थे। मार्च 1985 में गोर्बाचोफ सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव के पद पर निर्वाचित हुए। उन्होंने सत्ता संभालते ही देश में लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया शुरू कर दी जिसको "पेरेस्त्रोइका" यानी समाज के "पुनर्गठन" का नाम दिया गया। इसके अंतर्गत उन्होंने सोवियत समाज को पारदर्शी बनाने और इसमें "खुलेपन" का वातावरण पैदा करने के लिए भरसक प्रयास किए। उसके बाद देश में लोकतंत्रीकरण की ऐसी पवन

Copyright Akhil Murti

चलें · ...म लोग अपने आप को आज़ाद महसूस करने लगे। 1990 में सोवियत संघ के इतिहास में पहली बार स्वतंत्र संसदीय
चुना· ...आयोजन किया गया।

...1990 को मिखाइल गोर्बाचोफ सोवियत संघ के पहले राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित हुए। 1985 से 1991 तक उनकी ... बदौलत इस अवधि में सोवियत संघ और पश्चिमी देशों के बीच संबंधों में मूलभूत परिवर्तन आया। अब एक दुश्मन ... साथी की छवि में बदल गई। पश्चिम के साथ साझेदारी की इस नीति ने "शीत युद्ध" और परमाणु हथियारों की दौड़ ... करने और जर्मनी के एकीकरण में निर्णायक भूमिका निभाई। अपने देश में और पूरे विश्व में सुधार लाने के लिए की ... के लिए मिखाइल गोर्बाचोफ को अक्टूबर 1990 में नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

...सम्बर 1991 को मिखाइल गोर्बाचोफ ने राज्य प्रमुख के पद से इस्तीफा दे दिया। लेकिन इसके साथ उनके राजनीतिक ...अंत नहीं हुआ। 1992 में उन्होंने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोधों के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संस्थान की स्थापना ... "गोर्बाचोफ फाउंडेशन" भी कहा जाता है। मिखाइल गोर्बाचोफ रूस के राजनीतिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेते ... 1996 के चुनाव के दौरान वे रूस के राष्ट्रपति पद के लिए एक उम्मीदवार थे। उन्होंने 2001 में रूस की सोशल ... पार्टी का गठन किया जो सन् 2007 तक देश के राजनीतिक जीवन में सक्रिय रही। मिखाइल गोर्बाचोफ को 300 से ...स्कारों, उपाधियों, सम्मान और प्रमाण पत्रों से सम्मानित किया गया है। वर्ष 1992 के बाद के समय में उनकी दर्जनों पुस्तकें ... 10 भाषाओं में प्रकाशित की गई हैं।

...लामा (*Dalai Lama*)

... धर्म के धर्मगुरु को दलाईलामा कहा जाता है। दलाईलामा एक पदवी है जिसका मतलब होता है ज्ञान का महासागर। ... धर्म के 14वें दलाईलामा तिब्बती धर्मगुरु तेनजिन ग्यात्सो (Tenzin Gyatso) हैं। तेनजिन ग्यात्सो (Tenzin Gyatso) ... राष्ट्राध्यक्ष और आध्यात्मिक गुरु हैं। इनका जन्म 6 जुलाई, 1935 को पूर्वोत्तर तिब्बत के तक्सेर (Taktser) क्षेत्र में रहने ... साधारण किसान परिवार में हुआ था। उन्हें मात्र दो साल की उम्र में 13वें दलाई लामा थुबटेन ग्यात्सो (13th Dalai ...hubten Gyatso) का अवतार बताया गया था। मात्र 15 वर्ष की अल्प आयु में ही उन्हें तिब्बत का राष्ट्राध्यक्ष बना कर ...कार दे दिये गये थे। चीन के तिब्बत में बढ़ते हस्तक्षेप के कारण दलाईलामा को बहुत छोटी उम्र में ही कई तरह की दिक्कतों ...ना करना पड़ा।

... 1949 में तिब्बत पर चीन के हमले के बाद दलाई लामा से कहा गया कि वह पूर्ण राजनीतिक सत्ता अपने हाथ में ले लें ... दलाई लामा का पद दे दिया गया। चीन यात्रा पर शांति समझौता व तिब्बत से सैनिकों की वापसी की बात को लेकर 1954 ...माओ जैसे कई चीनी नेताओं से बातचीत करने के लिए बीजिंग भी गए, लेकिन सम्मेलन असफल रहा। आखिरकार वर्ष 1959 ... में चीनी सेनाओं द्वारा तिब्बती राष्ट्रीय आंदोलन को बेरहमी से कुचले जाने के बाद वह निर्वासन में जाने को मजबूर हो ...तः वर्ष 1959 में उन्हें भारत में शरण लेनी पड़ी। वह हिमाचल प्रदेश के शहर धर्मशाला में रह रहे हैं, जो केंद्रीय तिब्बती ... का मुख्यालय है।

...963 में दलाई लामा ने तिब्बत के लिए एक लोकतांत्रिक संविधान का प्रारूप प्रस्तुत किया। सितंबर 1987 में दलाई लामा ने ... की खराब होती स्थिति का शांतिपूर्ण हल तलाशने की दिशा में पहला कदम उठाते हुए पांच सूत्री शांति योजना प्रस्तुत की। ... यह विचार रखा कि तिब्बत को एक ऐसे शांति क्षेत्र में बदला जा सकता है जहां सभी सचेतन प्राणी शांति से रह सकें और ...पर्यावरण की रक्षा की जाए। 21 सितम्बर 1987 को अमेरिकी कांग्रेस (United States Congress) के सदस्यों को सम्बोधित ...हुए दलाई लामा ने पांच बिन्दुओं वाली निम्न शांति योजना रखी–

... समूचे तिब्बत को शांति क्षेत्र में परिवर्तित किया जाए।
... चीन उस जनसंख्या स्थानान्तरण नीति का परित्याग करे जिसके द्वारा तिब्बती लोगों के अस्तित्व पर खतरा पैदा हो रहा है।
... तिब्बती लोगों की बुनियादी मानवाधिकार और लोकतांत्रिक स्वतंत्रता का सम्मान किया जाय।
... तिब्बत के प्राकृतिक पर्यावरण का संरक्षण व पुनरुद्धार किया जाय और तिब्बत को नाभिकीय हथियारों के निर्माण व नाभिकीय कचरे के निस्तारण स्थल के रूप में उपयोग करने की चीन की नीति पर रोक लगे।
5. तिब्बत की भविष्य की स्थिति और तिब्बत व चीनी लोगों के सम्बंधों के बारे में गंभीर बातचीत शुरू की जाए। तिब्बत की मुक्ति के लिए अहिंसक संघर्ष जारी रखने हेतु दलाई लामा की इस कोशिश को सब ने सराहा। चीन और तिब्बत के बीच एक शांतिदूत की भूमिका निभाने के कारण उन्हें 10 दिसंबर 1989 में शांति का नोबल पुरस्कार दिया गया।

1992 में दलाई लामा ने यह घोषणा की कि जब तिब्बत स्वतंत्र हो जाएगा तो उसका सबसे पहला लक्ष्य होगा कि एक अंतरिम ...कार की स्थापना करना, जिसकी पहली प्राथमिकता तिब्बत के लोकतांत्रिक संविधान के प्रारूप तैयार करने और उसे स्वीकार ...रने के लिए एक संविधान सभा का चुनाव करना होगी। इसके बाद तिब्बती लोग अपनी सरकार का चुनाव करेंगे और दलाई लामा अपनी सभी राजनीतिक शक्तियाँ नवनिर्वाचित अंतरिम राष्ट्रपति को सौंप देंगे।

Copyright – Akhil Murti

उन्होंने लगातार अहिंसा की नीति का समर्थन अत्यधिक दमन की परिस्थिति में भी जारी रखा है। शांति, अहिंसा और हर सचेतन प्राणी की खुशी के लिए काम करना दलाई लामा के जीवन का बुनियादी सिद्धांत है। वह वैश्विक पर्यावरणीय समस्याओं पर भी चिंता प्रकट करते रहते हैं।

दलाई लामा के शांति संदेश, अहिंसा, अंतर धार्मिक मेलमिलाप, सार्वभौमिक उत्तरदायित्व और करूणा के विचारों को मान्यता देने के रूप में 1959 से अब तक 60 मानद डॉक्टरेट, पुरस्कार, सम्मान आदि प्राप्त हुए हैं। उन्होंने 50 से अधिक पुस्तकें लिखीं हैं। उनकी आत्मकथा Freedom in Exile : The Autobiography of the Dalai Lama है।

दलाई लामा का मानना है कि आज के समय की चुनौती का सामना करने के लिए मनुष्य को सार्वभौमिक उत्तरदायित्व की व्यापक भावना का विकास करना चाहिए। हमें यह सीखने की जरूरत है कि हम न केवल अपने लिए कार्य करें बल्कि पूरे मानवता के लाभ के लिए कार्य करें। मानव अस्तित्व की वास्तविक कुंजी सार्वभौमिक उत्तरदायित्व ही है। यह विश्व शांति, प्राकृतिक संसाधनों के समवितरण और भविष्य की पीढ़ी के हितों के लिए पर्यावरण की उचित देखभाल का सबसे अच्छा आधार है। पर्यावरण के बारे में उनका विचार है कि हमें प्रकृति की रक्षा करनी चाहिये। हम मनुष्य प्रकृति से ही जन्मे हैं इसलिए हमारा प्रकृति के खिलाफ़ जाने का कोई कारण नहीं बनता। दलाई लामा के अनुसार पर्यावरण धर्म, नीतिशास्त्र या नैतिकता का मामला नहीं है। हम विलासिताओं के बिना भी गुजर-बसर कर सकते हैं, लेकिन यदि हम प्रकृति के विरुद्ध जाते हैं तो हम जीवित नहीं रह सकते। वह भारत के प्रति भी बहुत कृतज्ञता महसूस करते हैं। वे कहते हैं कि 'एक शरणार्थी के रूप में हम तिब्बती लोग भारत के लोगों के प्रति हमेशा कृतज्ञ हैं, न केवल इसलिए कि भारत ने तिब्बतियों की इस पीढ़ी को सहायता और शरण दिया है, बल्कि इसलिए भी कि कई पीढ़ियों से तिब्बती लोगों ने इस देश से ज्ञान हासिल किया है। इसलिए हम हमेशा भारत के प्रति आभारी रहते हैं। यदि सांस्कृतिक नजरिए से देखा जाए तो तिब्बत भारतीय संस्कृति का अनुयायी है। चीन के दमनकारी नीतियों के बावजूद उनका मानना है कि तिब्बती समुदाय चीनी लोगों या चीनी नेताओं के खिलाफ़ नहीं है। आखिर वे भी एक मनुष्य के रूप में हमारे भाई बहन हैं। यदि उन्हें खुद निर्णय लेने की स्वतंत्रता होती तो वे खुद को इस प्रकार की विनाशक गतिविधि में नहीं लगाते या ऐसा कोई काम नहीं करते जिससे उनकी बदनामी होती हो। मैं उनके लिए करूणा की भावना रखता हूँ।'

Copyright [illegible]

महात्मा गांधी के जाति संबंधी विचार

महात्मा गांधी का जन्म एक हिन्दू वैष्णव परिवार में हुआ था। पारिवारिक संस्कारों का उन पर पर्याप्त प्रभाव था जिसकी गहरी छाप उनके सामाजिक दर्शन पर स्पष्टत: दिखती है। गांधी जी वर्ण व्यवस्था के समर्थक हैं, हालांकि जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता का उन्होंने हमेशा कठोर विरोध किया।

वर्ण व्यवस्था संबंधी विचार:

गांधी जी ने अपनी कई पुस्तकों तथा लेखों में वर्ण व्यवस्था से संबंधित विचार प्रस्तुत किए हैं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण है उनकी पुस्तक- 'हिन्दू धर्म'। उनके प्रमुख विचार इस प्रकार हैं-

(i) वे बताते हैं कि वर्ण व्यवस्था मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं बल्कि प्राकृतिक या ईश्वरीय व्यवस्था है। वे लिखते हैं- ''यह मानवीय आविष्कार नहीं, अपितु प्रकृति का अपरिवर्तनीय नियम है जो न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के नियम के समान सर्वत्र विद्यमान तथा सदैव क्रियाशील रहता है।'' उन्होंने यह भी कहा है कि वर्ण व्यवस्था सिर्फ भारत के लिए आदर्श नहीं है बल्कि सार्वभौमिक व्यवस्था है जो विश्व के सभी मनुष्यों की समस्याओं का समाधान कर सकती है।

(ii) गांधी जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था हिन्दू धर्म का अनिवार्य अंग है, वैकल्पिक नहीं। यदि कोई व्यक्ति वर्ण व्यवस्था को नहीं मानता है तो उसे हिन्दू मानना उनके लिए संभव नहीं है। वे लिखते हैं- ''कुरान को न मानकर कोई मनुष्य मुसलमान और बाइबिल को न मानकर कोई मनुष्य ईसाई कैसे रह सकता है?xxxx मैं नहीं जानता कि जो व्यक्ति जाति भेद अर्थात् वर्ण को नहीं मानता, वह अपने को हिन्दू कैसे कह सकता है?''

(iii) गांधी जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन की प्रणाली है जो समाज में श्रम की जरूरत और श्रम की उपलब्धता में समन्वय करती है। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था का मतलब सिर्फ इतना है कि ''हम जीविकोपार्जन के लिए उन पैतृक व्यवसयाओं का अनुसरण करें जो हमारे पूर्वज करते रहे हैं।''

(iv) गांधी जी ने वर्ण व्यवस्था को वंशानुगत माना है अर्थात् वे मानते हैं कि वर्ण का निर्धारण जन्म से ही होता है। इसके लिए उन्होंने तर्क यह दिया है कि ''जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों से विशेष आकृति ग्रहण करता है उसी प्रकार वह उनसे विशेष गुण भी प्राप्त करता है।'' तात्पर्य यह कि माता पिता में जो कौशल होता है, वह संतान में शारीरिक गुणों के रूप में स्थानांतरित होता है।

(v) गांधी जी स्पष्टत: मानते हैं कि हर व्यक्ति को अपने पैतृक व्यवसाय का ही चयन करना चाहिए। किन्तु, इसको यह अर्थ नहीं है कि वह निम्न वर्ण के व्यक्तियों को ज्ञान प्राप्ति से वंचित करते हैं। वे चाहते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति हर व्यक्ति करे किन्तु आजीविका का निर्धारण अपने वर्ण के अनुसार करे। उन्होंने लिखा है ''शूद्र को ज्ञान प्राप्त करने का उतना ही अधिकार है जितना ब्राह्मण को, किन्तु यदि वह अध्यापन द्वारा जीविकोपार्जन का प्रयास करता है तो वह अपनी स्थिति से पतित होता है।'' गांधी जी इस बात को लेकर इतने आग्रहशील हैं कि यदि किसी व्यक्ति को अपने वर्ण आधारित व्यवसाय में रुचि न हो तो भी उसे परिवर्तन का अवसर नहीं देते। वे साफ कहते हैं कि ''प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने पैतृक व्यवसाय में रुचि रखनी चाहिए क्योंकि जन्मगत पैतृक व्यवसाय का चयन अनुचित नहीं बल्कि एक महान आदर्श है।''

वर्ण व्यवस्था के लाभ:

गांधी जी ने कई तर्कों के द्वारा वर्ण व्यवस्था में अपने विश्वास को पुष्ट किया। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था का **पहला** काम यह है कि इससे आजीविका की प्राप्ति होती है और प्रत्येक व्यक्ति निरर्थक प्रतिस्पर्धा से बच जाता है। इससे उसे आध्यात्मिक विकास का मौका मिलता है। **दूसरा** लाभ यह है कि इसके कारण प्रशिक्षण की औपचारिक आवश्यकता नहीं पड़ती है। **तीसरा**, इससे आर्थिक सामाजिक विकास भी ज्यादा होता है क्योंकि व्यक्ति लंबे अभ्यास के कारण अपना कार्य ज्यादा कुशलता से करता है। **चौथा** लाभ यह है कि इससे व्यक्ति की सांसारिक इच्छाएँ नियंत्रित रहती हैं और उसे आध्यात्मिक विकास का ज्यादा अवसर मिलता है।

जातिगत भेदभाव का विरोध:

यहाँ ध्यान रखना ज़रूरी है कि जब गांधी वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हैं तो सामाजिक विषमताओं का समर्थन नहीं करते। उनका स्पष्ट मत है कि सभी वर्ण बराबर हैं क्योंकि सभी के कार्य समाज के स्वस्थ संचालन के लिए ज़रूरी हैं। 'हिन्द स्वराज' में उन्होंने स्पष्ट राय जाहिर की है कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम में मूल्य का कोई भेद नहीं होता है। व्यक्ति का वेतन या उसकी उपलब्धियाँ मांग-पूर्ति के अंध नियम से नहीं बल्कि उसकी ज़रूरतों से निर्धारित होनी चाहिएँ। उनका प्रसिद्ध कथन है कि ''नाई और वकील को बराबर वेतन मिलना चाहिए क्योंकि दोनों की मानवीय ज़रूरतें समान हैं।''

स्पष्ट है कि गांधी जी वर्ण व्यवस्था के जन्ममूलक तथा वंशानुगत स्वरूप के समर्थक हैं किन्तु वे इसे ऊँच-नीच या स्तरीकरण की व्यवस्था नहीं मानते। वे जाति भेद को स्तरीकरण की व्यवस्था मानते हैं और अस्पृश्यता को उसका सबसे घृणित रूप। वे लिखते हैं कि "मैं अस्पृश्यता के अपवित्र धब्बे को बड़ी गहराई से अनुभव करता हूँ और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि इसे हिन्दू धर्म से पूर्णतया न हटाया गया तो धर्म का विनाश निश्चित है।"

गांधी जी अस्पृश्यता का अंत करना चाहते हैं किन्तु उसके लिए किसी हिंसक क्रांति या तीव्र परिवर्तन की वकालत नहीं करते। अपने वेदांती दर्शन की मान्यताओं के अनुरूप उनका गहरा विश्वास हृदय परिवर्तन के मूल्य में है जिसे उन्होंने वेदांत के साथ बुद्ध, महावीर और ईसा मसीह से सीखा है। वे सवर्ण हिन्दुओं का हृदय परिवर्तन करना चाहते हैं। वे लिखते हैं- "मैं बल प्रयोग अथवा अन्य किसी प्रकार की बाध्यता द्वारा अस्पृश्यता को नहीं हटाना चाहता हूँ। अस्पृश्यता का निराकरण कानून अथवा दबाव द्वारा संभव नहीं है। करोड़ों हिन्दुओं के हृदय परिवर्तन तथा पूर्ण विशुद्धिकरण द्वारा ही अस्पृश्यता का निवारण हो सकता है।"

गांधी जी ने स्पष्टतः दावा किया है कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अनिवार्य अंग नहीं है। वे कहते हैं कि जिन महान ऋषि-मुनियों ने वेद उपनिषद जैसे महान ग्रंथों की रचना की, वे इस अमानवीय व्यवस्था का समर्थन कैसे कर सकते हैं? वे यहाँ तक कहते हैं कि यदि शास्त्र इसका समर्थन करें तो भी मैं इसे नहीं स्वीकारूंगा क्योंकि यह मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि के खिलाफ है। इसी विश्वास के तहत उन्होंने 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया, निम्न वर्णों के मंदिर प्रवेश के लिए आंदोलन चलाया और सवर्णों के हृदय परिवर्तन के उद्देश्य से अन्तर्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह जैसे कार्यक्रमों को काफी बढ़ावा दिया।

आलोचना:

(i) हृदय परिवर्तन का मार्ग पर्याप्त नहीं माना जा सकता। जब गांधी जी जैसा राष्ट्रनायक हिन्दुओं का हृदय परिवर्तन नहीं कर सका तो किसी और से ऐसी उम्मीद करना व्यर्थ ही है।

(ii) वर्तमान में विज्ञान तकनीक के विकास के कारण अनेकों प्रकार के नए-नए व्यवसाय विकसित हुए हैं जिनके लिए अपेक्षित योग्यता इतनी ऊँची है कि उन्हें वंशानुगत बनाया ही नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए, क्या एक डॉक्टर का बेटा अनिवार्यतः डॉक्टर ही बन सकता है?

(iii) गांधी जी ने वर्णव्यवस्था को गुरुत्वाकर्षण के नियम की तरह प्राकृतिक और सार्वभौमिक माना जबकि सच यह है कि कोई भी नैतिक नियम न तो सार्वभौम होता है, न ही प्राकृतिक। सभी नैतिक नियम मनुष्यों द्वारा ही बनाए जाते हैं।

(iv) गांधी जी का यह तर्क कि माता-पिता के गुणों का संक्रमण संतान में होता है, गलत है। आज तक कोई भी मनोवैज्ञानिक इसे सिद्ध नहीं कर सका है। विस्मैन जैसे मनोवैज्ञानिकों ने इस मान्यता का विरोध किया है और कहा है कि संतान में माता-पिता जैसे गुण समान माहौल के कारण पैदा होते हैं, न कि आनुवांशिक कारणों से।

(v) गांधी जी मानकर चलते हैं कि आवश्यकताएँ पूरी होते ही व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है, किन्तु यह मान्यता सभी व्यक्तियों पर लागू नहीं होती।

डॉ. अम्बेडकर के जाति संबंधी विचार

डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा जाति व्यवस्था के संबंध में आमूल परिवर्तनकारी (Radical) है। इसका मूल कारण यह माना जाता है कि चूँकि उनका जन्म शूद्र वर्ण में हुआ था और उन्होंने जाति संबंधी निर्योग्यताओं तथा अत्याचारों को खुद अनुभव किया था, इसलिए वे इस व्यवस्था से उत्पन्न समस्याओं को ज्यादा गहराई से महसूस कर पाते थे। अम्बेडकर ने स्पष्टतः कहा कि मेरे लिए मेरे व्यक्तिगत उद्देश्य से बड़ा दलितों की मुक्ति का उद्देश्य है। मेरे व्यक्तिगत हित से राष्ट्रीय हित भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है किंतु यदि कहीं दलितों के हित और राष्ट्रहित को चुनना पड़ता है तो मैं दलितों के हित को प्राथमिकता दूंगा।

डॉ. अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था के संबंध में बहुत सी पुस्तकें और लेख लिखे जिनमें से प्रमुख हैं- 'The Untouchables', 'शूद्र कौन थे', 'कांग्रेस और गांधी ने अस्पृश्यों के साथ क्या किया है' तथा 'भारत में जाति का उद्भव और विकास' आदि। इन पुस्तकों में अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति, उसके नुकसान तथा उन्मूलन के उपायों इत्यादि पक्षों पर विचार किया।

जाति व्यवस्था का उद्भव:

डॉ. अम्बेडकर का दावा है कि मूल रूप से शूद्र सूर्यवंशी क्षत्रिय थे, किन्तु शूद्र राजाओं ने वर्णव्यवस्था के अंतर्गत ब्राह्मणों का वर्चस्व मानने से इंकार कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया में ब्राह्मणों ने उनका उपनयन संस्कार करना बंद कर दिया और इसी कारण वे तीनों वर्णों से अलग होकर चौथे वर्ण बन गए। अम्बेडकर ने ऋग्वेद के पुरुष सूक्त को अप्रामाणिक तथा प्रक्षिप्त अंश माना है और तर्क दिया है कि इसमें निहित मान्यताएँ वैदिक साहित्य के अन्य कथनों के साथ सुसंगत नहीं हैं। उन्होंने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के

संबंध में रिज़ले और नेसफील्ड की 'प्रजाति' तथा 'व्यवसाय' पर आधारित व्याख्याओं को ख़ारिज किया और दावा किया कि जाति व्यवस्था वर्णव्यवस्था का ही विकृत रूप है जिसे ब्राह्मण वर्ण ने अपनी सुविधा तथा लालच के लिए बनाया है।

गांधी जी ने माना था कि वर्ण व्यवस्था प्राकृतिक नियम की तरह अटल है और वह अपने स्वरूप में ईश्वरीय है। डॉ. अम्बेडकर इस विचार का कठोर खंडन करते हैं और कहते हैं कि वर्ण व्यवस्था मानवीय व्यवस्था है, वह भी उस समय की जब मानवीय बुद्धि विकास के आदिम स्तर पर थी। उनके अनुसार कुछ ब्राह्मणों ने निहित स्वार्थों के कारण ऋग्वेद में पुरुष सूक्त को प्रक्षेपित कर दिया। इसके बाद से हिन्दुओं को विश्वास हो गया कि वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति ईश्वर ने की है। ईश्वर ने ब्राह्मणों को मुख से, क्षत्रियों को बाहु से, वैश्यों को जाँघ से और शूद्रों को पैर से उत्पन्न किया- इस मिथ्या धारणा ने वर्ण व्यवस्था के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

जाति व्यवस्था का विरोध:

गांधी जी ने वर्ण व्यवस्था के कई लाभ बताए थे किन्तु डॉ. अम्बेडकर ने इस व्यवस्था की बहुत सी हानियों को स्पष्ट किया। जाति व्यवस्था के प्रमुख नुकसान इस प्रकार हैं–

(i) वर्ण व्यवस्था श्रम का विभाजन नहीं, 'श्रमिकों का विभाजन' है। वे मानते हैं कि किसी भी समाज के विकास के लिए श्रम विभाजन ज़रूरी होता है। किन्तु, श्रम विभाजन की अच्छी व्यवस्था वह है जिसमें सभी व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य प्राप्त कर सकें। वर्ण व्यवस्था गतिशीलता को रोकती है। यह रुचि और योग्यता के अनुसार नहीं बल्कि जन्म के अनुसार श्रमिकों का विभाजन करती है।

(ii) वर्ण व्यवस्था सामाजिक विषमताओं को बढ़ाती है, इसलिए यह आधुनिक व सभ्य समाज के लिए उपयोगी नहीं है। इसमें एक ओर शूद्रों को अमानवीय जीवन जीने के लिए बाध्य किया जाता है, उनकी परछाईं को भी अपवित्र माना जाता है तो दूसरी ओर ब्राह्मणों को अधिक से अधिक विशेषाधिकार दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए, उसे जन्म के आधार पर ही सभी वर्णों का गुरु होने का अधिकार मिलता है, उस पर कई कर नहीं लागू होते, वह राजा के अधीन नहीं माना जाता तथा हत्या करने पर भी प्राणदण्ड का भागी नहीं होता।

(iii) वर्ण या जाति व्यवस्था बौद्धिक और शारीरिक श्रम में भेद करके अभिजात्यवादी (Elitist) मानसिकता को बढ़ावा देती है। मूल रूप से बौद्धिक और शारीरिक दोनों कार्य समाज के अस्तित्व हेतु अनिवार्य हैं, अत: उन्हें समान महत्व मिलना चाहिए। वर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों को बौद्धिक कार्य देती है और सबसे ऊँचा स्थान देकर इस विचारधारा को स्थापित करती है कि बौद्धिक श्रम शारीरिक श्रम से श्रेष्ठ होता है।

(iv) वर्ण या जाति व्यवस्था स्वावलम्बन को नहीं, परावलम्बन को बढ़ावा देती है। समाज में श्रम विभाजन तो होना ही चाहिए किन्तु वैसा नहीं जैसा वर्ण व्यवस्था में है। उदाहरण के लिए, ज्ञान की प्राप्ति सभी को करनी चाहिए, अपनी सुरक्षा के लिए साहस और गुणों का विकास सभी में होना चाहिए तथा अपने सामान्य दैनिक कार्य सबको स्वयं ही करने चाहिएँ। वर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों को सिर्फ बौद्धिक कार्य देती है और उनको शरीर से पंगु बना देती है जबकि क्षत्रियों को सिर्फ साहसिक कार्य देकर बाकी योग्यताओं से वंचित कर देती है। यही स्थिति अन्य वर्णों की होती है।

(v) वर्ण या जाति व्यवस्था मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों का ह्रास करती है। हर मनुष्य में कुछ विशिष्ट क्षमताएँ होती हैं जिनका सम्यक् विकास होने से समाज को अत्यधिक लाभ होता है। वर्ण व्यवस्था व्यक्ति को अपनी सृजनात्मकता दबाने पर मजबूर करती है क्योंकि यदि उसकी क्षमताएँ उसके वर्ण दायित्व के लिए उचित नहीं हैं तो उनका दमन करना ही इसके अनुसार श्रेयस्कर है।

(vi) वर्ण या जाति व्यवस्था समाज में पृथकता और विघटन जैसे तत्वों को बढ़ावा देती है। यदि लम्बे समय तक किसी वर्ग को उसकी बुनियादी मानवीय आवश्यकताओं से वंचित रखा जाए तो वह खुद को समाज से अलग-थलग महसूस करने लगता है।

स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था को पूरी तरह से नकारा है। वे निष्कर्ष देते हुए कहते हैं कि ''वह दर्शन जो समाज को टुकड़ों में बाँटता है, जो कार्य को रुचि से अलग रखता है, जो बुद्धि को श्रम से पृथक करता है, जो जीवन की मूलभूत रुचियों के अधिकार से आदमी को वंचित करता है, वह सामाजिक उपयोगिता के मानदण्ड को कैसे संतुष्ट कर सकता है?''

जाति व्यवस्था का उन्मूलन:

गांधी जी ने जाति व्यवस्था के उन्मूलन के लिए हृदय परिवर्तन पर बल दिया था और अंतर्जातीय भोज तथा अंतर्जातीय विवाहों को इसका साधन बनाया था। डॉ. अम्बेडकर का दावा है कि ये सभी उपाय खोखले हैं क्योंकि जो हिन्दू अपने जीवन की हर घटना

वर्ण व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, वे इतने छोटे उपायों से इससे मुक्त नहीं हो सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि हृदय परिवर्तन एक बेहद लम्बी प्रक्रिया है और दलित वर्ग, जो अपने शोषण और दमन को समझ चुका है, इतना लम्बा इंतज़ार नहीं कर सकता है। उन्होंने व्यंग्य करते हुए कहा कि "यदि महात्मा गांधी जैसा महान राष्ट्रनायक सवर्ण हिन्दुओं का हृदय परिवर्तन नहीं कर सका तो फिर यह और किसी के लिए कैसे सम्भव है?"

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार जाति व्यवस्था के उन्मूलन का वास्तविक उपाय धर्म के स्तर पर होना चाहिए क्योंकि मूल समस्या धर्म से ही पैदा हुई है। उपनिषदों में अद्वैतवाद का विचार व्यक्त किया गया है जो बताता है कि आत्मा और ब्रह्म में अभेद है तथा सभी जीव ब्रह्म के प्रतिबिम्ब या विभिन्न रूप हैं। स्पष्ट है कि ऐसा दर्शन वर्ण व्यवस्था या जाति व्यवस्था का समर्थन नहीं कर सकता। किन्तु, ब्राह्मण धर्म के प्रतिनिधियों ने पुरुष सूक्त, मनुस्मृति जैसी रचनाओं में इस विभेद को स्थापित कर दिया। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार गीता भी वर्ण विभेद का समर्थन करती है। वे लिखते हैं-"भगवान कृष्ण ने स्वयं यह उद्घोषित किया कि मैंने स्वयं चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सृजन किया है और व्यक्तियों की क्षमताओं के अनुसार उन्हें भिन्न-भिन्न व्यवसाय दिया है। अरे अर्जुन, जब कर्त्तव्यों और व्यवसायों के इस धर्म का पतन होता है तब मैं स्वयं जन्म धारण करता हूँ ताकि इस व्यवस्था के पतन के ज़िम्मेदार लोगों को दण्डित कर सकूँ और व्यवस्था पुन: स्थापित कर सकूँ।"

डॉ. अम्बेडकर का स्पष्ट मत है कि जाति व्यवस्था की मजबूती इसलिए इतनी अधिक है क्योंकि इसे धर्म द्वारा वैधता हासिल है। इसलिए, उनके अनुसार, सिर्फ जाति व्यवस्था पर चोट करने से कुछ नहीं होगा। उन मूल आस्थाओं को ही तोड़ना होगा जो इस भेदभाव को वैध बनाती हैं। वे लिखते हैं "वास्तविक समाधान शास्त्रों की पवित्रता में आस्था को नष्ट करना है xxx लोग अपने आचरण को उस समय तक नहीं बदलेंगे जब तक उन शास्त्रों की पवित्रता में विश्वास करना बंद नहीं करेंगे जिन पर उनका आचरण आधारित है।"

डॉ. अम्बेडकर ने इसी विचार के आधार पर हिन्दू धर्म की धार्मिक व्यवस्था को पुन: संगठित करने पर बल दिया। इसका पहला उपाय है कि हिन्दू धर्म का सिर्फ एक प्रामाणिक ग्रंथ होना चाहिए जो आधुनिक मूल्यों से सुसंगत विचारों को लेकर बनाया गया हो। शेष सभी ग्रंथों को कानूनी रूप से निषिद्ध कर दिया जाना चाहिए क्योंकि उन्हीं का आश्रय लेकर लोग सामाजिक विषमता को सही ठहराते हैं।

दूसरा सुझाव डॉ. अम्बेडकर ने यह दिया कि पुरोहिताई की वंशानुगत व्यवस्था समाप्त होनी चाहिए। उनका तर्क है कि यदि डॉक्टर, इंजीनियर या वकील बनने के लिए विशेष योग्यताओं का अर्जन करना पड़ता है और परीक्षाओं में सफलता मिलने पर ही इन व्यवसायों में प्रवेश मिलता है तो पुरोहिताई को यूँ ही कैसे छोड़ा जा सकता है? हो सकता है कि पुरोहित मन्द-बुद्धि का हो, धार्मिक कथनों को समझ ही नहीं पाता हो या किसी गन्दे रोग से पीड़ित हो- तब भी उसे ईश्वर को छूने का अधिकार मिल जाए जबकि शेष वर्णों के योग्य व्यक्ति भी पुरोहित न बन सकें- यह अनुचित है। पुरोहित को राजकीय सेवक बनाया जाना चाहिए और राज्य द्वारा चुना जाना चाहिए।

डॉ. अम्बेडकर ने अल्पकालिक समाधान के तौर पर आरक्षण पर भी बल दिया। उनका तर्क है कि निम्न वर्ग के लोगों की कई पीढ़ियों ने अपनी सारी शक्ति मालिकों के लिए श्रम करते हुए गुजारी है जिसके कारण मालिकों और उनके अपने व्यक्तित्व में बहुत अधिक अंतराल पैदा हो गया है। अब बराबरी करने के लिए ज़रूरी है कि निम्न वर्गों को कुछ क्षतिपूरक न्याय दिया जाए।

डॉ. अम्बेडकर ने अस्पृश्यता को अपराध घोषित करने की मांग की जिसे भारतीय संविधान में स्वीकार किया गया।

डॉ. अम्बेडकर का अंतिम विचार था कि यदि निम्न वर्ग को किसी भी प्रकार से जातीय निर्योग्यताओं से मुक्ति न मिले तो उसे हिन्दू धर्म ही छोड़ देना चाहिए। उन्होंने 1935 ई. में येवला में एक सभा को संबोधित करते हुए घोषणा की कि "दुर्भाग्य से मैं हिन्दू धर्म में पैदा हुआ हूँ क्योंकि यह तय करना मेरी शक्ति से बाहर था, पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं हिन्दू के रूप में मरूंगा नहीं"। डॉ. अम्बेडकर ने यही किया भी। 1956 ई. में अपनी मृत्यु से कुछ ही महीने पहले उन्होंने नागपुर में अपने हज़ारों समर्थकों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और यहीं से नव-बौद्ध आंदोलन का सूत्रपात हुआ। उन्होंने बौद्ध धर्म को इसलिए चुना क्योंकि वह न तो ईश्वर और आत्मा जैसी अलौकिक कल्पनाओं में विश्वास करता है और न ही मनुष्यों में भेदभाव को स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त, यह भी महत्वपूर्ण है कि महात्मा बुद्ध ने ईसा मसीह, मुहम्मद पैगम्बर या कृष्ण की तरह खुद को ईश्वर, ईश्वर का दूत या ईश्वर-पुत्र नहीं बताया। बुद्ध ने वही माना जो अनुभव और तर्कबुद्धि से सुसंगत है। उन्होंने बाकी धर्मप्रवर्तकों की तरह स्वयं को 'मोक्षदाता' नहीं, सिर्फ 'मार्गदाता' कहा है। 'आत्मदीपो भव' का सिद्धांत देकर बुद्ध ने प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा में वृद्धि की जबकि बाकी धर्म मनुष्य की गरिमा का हनन करते हैं।

आलोचनाएँ:

(i) डॉ. अम्बेडकर ने वर्ण व्यवस्था की जो ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत की है, वह इतिहासकारों को मान्य नहीं है। वे तटस्थ होकर इतिहास की व्याख्या नहीं कर सके हैं, दलित हितों के आधार पर ही इतिहास को देखते हैं।

(ii) धर्मान्तरण वस्तुत: सही समाधान नहीं है। धर्म दार्शनिकों का मत है कि साधारण व्यक्ति यदि धर्म परिवर्तन कर भी लेता है तो उसके वास्तविक जीवन में कोई तात्विक अंतर पैदा नहीं होता।